

ISSN: 0971-8478

नवम्बर 2022



आजकल

1945 से निरंतर प्रकाशित

साहित्य और संस्कृति का मासिक



कथा की ममता



योजना
विकास को समर्पित मासिक
(हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू व 10 अन्य भारतीय भाषाओं में)

आजकल
साहित्य एवं संस्कृति का मासिक
(हिंदी तथा उर्दू)



प्रकाशन विभाग
सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

रोजगार समाचार
साप्ताहिक
(हिंदी, अंग्रेजी तथा उर्दू)

कुरुक्षेत्र
ग्रामीण विकास पर मासिक
(हिंदी और अंग्रेजी)

बाल भारती
बच्चों की मासिक पत्रिका
(हिंदी)

घर पर हमारी पत्रिकाएं मंगाना है काफी आसान...

आपको सिर्फ नीचे दिए गए 'भारत कोश' के लिंक पर जा कर पत्रिका के लिए ऑनलाइन डिजिटल भुगतान करना है—
<https://bharatkosh.gov.in/Product/Product>

सदस्यता दें

प्लान	योजना या कुरुक्षेत्र या आजकल (सभी भाषा)	बाल भारती	रोजगार समाचार		सदस्यता शुल्क में रजिस्टर्ड डाक का शुल्क भी शामिल है। कोविड-19 महामारी के मद्देनजर नए ग्राहकों को अब रोजगार समाचार के अलावा सभी पत्रिकाएं केवल रजिस्टर्ड डाक से ही भेजी जाएंगी। पुराने ग्राहकों के लिए मौजूदा व्यवस्था बनी रहेगी।
वर्ष	रजिस्टर्ड डाक	रजिस्टर्ड डाक	मुद्रित प्रति (साधारण डाक)	ई-संस्करण	
1	₹ 434	₹ 364	₹ 530	₹ 400	
2	₹ 838	₹ 708	₹ 1000	₹ 750	
3	₹ 1222	₹ 1032	₹ 1400	₹ 1050	

ऑनलाइन के अलावा आप डाक द्वारा डिमांड ड्राफ्ट, भारतीय पोस्टल आर्डर या मनीआर्डर से भी प्लान के अनुसार निर्धारित राशि भेज सकते हैं। डिमांड ड्राफ्ट, भारतीय पोस्टल आर्डर या मनीआर्डर 'अपर महानिदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय' के पक्ष में नई दिल्ली में देय होना चाहिए। रोजगार समाचार की 6 माह की सदस्यता का प्लान भी उपलब्ध है, प्रिंट संस्करण रु. 265/-, ई-संस्करण रु. 200/-, कृपया ऑनलाइन भुगतान के लिए <https://eneversion.nic.in/membership/login> लिंक पर जाएं। डिमांड ड्राफ्ट 'Employment News' के पक्ष में नई दिल्ली में देय होना चाहिए। अपने डीडी, पोस्टल आर्डर या मनीआर्डर के साथ नीचे दिया गया 'सदस्यता कूपन' या उसकी फोटो कॉपी में सभी विवरण भरकर हमें भेजे। भेजने का पता है—
संपादक, पत्रिका एकांश, प्रकाशन विभाग, कक्ष सं. 779, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003.

अधिक जानकारी के लिए ईमेल करें- pdjucir@gmail.com

हमसे संपर्क करें- फोन: 011-24367453, (सोमवार से शुक्रवार सभी कार्य दिवस पर प्रातः साढ़े नौ बजे से शाम छह बजे तक)

कृपया नोट करें कि पत्रिका भेजने में, सदस्यता शुल्क प्राप्त होने के बाद कम से कम आठ सप्ताह लगते हैं, कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें और पत्रिका न मिलने की शिकायत इस अवधि के बाद करें।

सदस्यता कूपन (नई सदस्यता/नवीकरण/पते में परिवर्तन)

कृपया मुझे 1/2/3 वर्ष के प्लान के तहत पत्रिका भाषा में भेजें।

नाम (साफ व बड़े अक्षरों में)

पता :

..... जिला पिन

ईमेल मोबाइल नं.

डीडी/पीओ/एमओ सं. दिनांक सदस्यता सं.

ममता कालिया पर विशेष	
स्त्री-सरोकारों की गहन पहचान : रोहिणी अग्रवाल	6
साक्षात्कार : एक आधुनिक दिमाग की लेखिका : मनोज मोहन	10
संस्मरण : कभी न भूलने वाली मुलाकात : कुसुमलता सिंह	13
जीते जी इलाहाबाद : ललित कुमार सिंह	15
बाल साहित्य पर विशेष	
बाल साहित्य की महत्वपूर्ण कृतियाँ : रोहिताश्व अस्थाना	22
हिन्दी बाल साहित्य के यक्ष प्रश्न : समीर गांगुली	26
21वीं सदी की चुनौतियाँ : अखिलेश श्रीवास्तव चमन	29
साक्षात्कार	
हम अपनी पारी खेल चुके (शेखर जोशी से बातचीत) : नवीन जोशी	36
जन्मदिवस पर विशेष	
तुमसे मिलकर उदास रहता हूँ : राजेन्द्र दानी	39
पुण्यतिथि स्मरण	
मैं अपनी अनास्था में अधिक सहिष्णु हूँ : कुमार मंगलम	42
कहानी	
पबजी : संजय कुमार सिंह	17
फूचाजी : कुमार विश्वबन्धु	32
मारेंगे सोनू उर्फ आत्मकथ्य सोनू : ममता शर्मा	34

कविताएँ	
सात कविताएँ : नूपुर अशोक	19
चार कविताएँ : लिली मित्रा	20
चार कविताएँ : हेमंत देवलेकर	21
आज़ादी का अमृत महोत्सव	
रानी वेलु नाचियार : शिवम तिवारी	45
इस माह-75 वर्ष पूर्व	
हिन्दी में हास्य-रस : सत्यवती	47
पत्रिका आजकल	
अवदानों पर दृष्टि : राकेश कुमार सिंह	49
मूल्यांकन	
सुलगते वर्तमान की उत्तप्त गजलें : हरेश्वर समीप	52
मानवता की पक्षधर कहानियाँ : अरुण होता	55
कबीर को समग्रता में देखा-समझा जाए : नीरज कुमार मिश्र	57
पुस्तक परिचय	
सबका साथ सबका विकास सबका विश्वास : प्रियंका सिंह आवरण-3	

ISSN-0971-8478

पृष्ठ 60

आजकल स्थापित 1945

वर्ष : 78, अंक : 7
पूर्णक : 932
नवम्बर, 2022
कार्तिक-अग्रहायण-1944

प्रधान सम्पादक
राकेशरेणु

सम्पादक
फरहत परवीन

सम्पादन सहयोग
शुभ्रा सिंह

प्रथम आवरण चित्र : भरत तिवारी
रेखाचित्र : दिलीप कुमार शर्मा 'अज्ञात'

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार

सम्पादक

आजकल

प्रकाशन विभाग

कमरा नं. 601डी, सूचना भवन

सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड

नई दिल्ली-110003

दूरभाष : 011-24362915

ई.मेल : ajkalhindi@gmail.com

website : www.publicationsdivision.nic.in

फेसबुक : www.facebook.com/

publicationsdivision

ट्विटर : @DPD_India

ईस्टाग्राम : @dpd_india



संयुक्त निदेशक (उत्पादन)

डी.के.सी. हृदयनाथ

सदस्यता शुल्क :

वार्षिक : 434 रुपये

दो वर्ष : 838 रुपये

तीन वर्ष : 1222 रुपये

(रजिस्टर्ड डाक से)

पत्रिका न मिलने की शिकायत
अथवा आजकल की सदस्यता
लेने या पुराने अंक मँगाने के लिए
pdjucir@gmail.com पर ईमेल करें
या सम्पर्क करें-

दूरभाष : 011-24367453

सदस्यता सम्बन्धी पत्राचार का पता

अभिषेक चतुर्वेदी, सम्पादक (प्रसार),

पत्रिका एकांश, प्रकाशन विभाग,

कमरा नं. 779, सूचना भवन,

सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,

नई दिल्ली-110003

हमारे विक्रय केन्द्र : नई दिल्ली: सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, दूरभाष : 011-24367260, लखनऊ : हॉल नं. 1, दूसरी मंजिल, केंद्रीय भवन, अलीगंज, दूरभाष : 0522-2225455, कोलकाता : 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, दूरभाष : 33-22488030, पटना : बिहार रा. सह. बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, दूरभाष : 0612-2683407, मुम्बई : 701 बी-विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन बेलापुर, नवीं मुम्बई, दूरभाष : 9522-27570686, बंगलुरु : एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला दूरभाष : 080-25537244, अहमदाबाद : 4-सी, नेपच्यून टॉवर (एच.पी. पेट्रोल पंप के निकट), नेहरू ब्रिज कॉर्नर, आश्रम रोड, दूरभाष : 079-26588669, हैदराबाद : कमरा नं. 204, द्वितीय तल, सी.जी.ओ. टॉवर्स, कावादिगुडा-500080, चेन्नई : राजाजी भवन, एनी बेसैम्ट नगर, दूरभाष : 044-24917673, तिरुअनंतपुरम : गवर्मेन्ट प्रेस के निकट, दूरभाष : 041-2330650

सितम्बर 2022 अंक मिला। अंक बहुत ही सुन्दर और ज्ञानवर्धक लगा। 'आजकल' पत्रिका बराबर विशेषांक निकाल कर एक बहुत बड़ा काम कर रही है। इसी क्रम में इस बार वरिष्ठतम साहित्यकार शेखर जोशी पर विशेषांक निकाल कर पत्रिका ने एक स्तुत्य कार्य किया है। पूरा अंक तल्लीनता से पढ़ गया तथा शेखर जोशी के लेखन पर विद्वानों के विचारों से बड़ा आत्मसंतोष मिला।

शेखर जोशी हिन्दी के ऐसे वरिष्ठ साहित्यकार और कथाकार थे जिन्होंने कोई उपन्यास तो नहीं लिखा लेकिन इनकी कहानियाँ बहुत प्रसिद्ध रही हैं। जहाँ हिन्दी के कथाकारों

शेखर जोशी की प्रमुख कहानियाँ 'दाज्यू', 'कोशी का घटवार', 'व्यतीत', 'समर्पण', 'नौरंगी बीमार है', 'आशीर्वचन', 'बदबू', 'डॉंगरी वाले', 'गलता लोहा' आदि आज भी हिन्दी कथा-साहित्य में मील का पत्थर हैं। शेखर जोशी कहानीकार के साथ-साथ एक सिद्धहस्त कवि भी रहे हैं।

अंक में मुक्तिबोध का स्मरण करते हुए हितेश कुमार सिंह ने 'मुक्तिबोध के सृजन की प्रासंगिकता' लेख में बड़े विस्तार से उनके सृजन की बात की है। इस बार श्याम नन्दन किशोर और उपेन्द्र कुमार के जन्म दिवस पर लिखे लेख बड़े प्रभावी और ज्ञानवर्धक हैं। कैलाश मनहर, अनिल विभाकर और अमिता सिंह की कविताओं ने बहुत प्रभावित किया। कुल मिलाकर यह अंक बेहद पठनीय एवं संग्रहणीय है।

-रमेश चन्द्र शुक्ल
ऋषिनगर, शुक्लागंज,
ज़िला उन्नाव (उत्तर प्रदेश)

सितम्बर 2022 अंक पढ़ा। नई कहानी आंदोलन के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर शेखर जोशी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का न सिर्फ सार्थक मूल्यांकन किया है बल्कि जीते जी उन पर विशेषांक निकालकर उनको आपने ऑक्सीजन देने का काम किया है। शेखर जोशी आँचलिक संवेदना के यथार्थवादी कथाकार हैं, उनकी चर्चित कहानी 'कोसी का घटवार', 'दाज्यू', 'बदबू', 'मेंटल' आदि हैं जिन्हें मैंने बचपन में पढ़ लिया था। अमरकान्तजी के साथ अक्सर हमारे घर इलाहाबाद आते थे। शेखर जोशी जब-जब इलाहाबाद आए तो पिताजी के पास ही रुके थे,

-विवेक सत्यांश

शिवानगर कालोनी, अल्लापुर, इलाहाबाद

सितम्बर 2022 अंक पढ़कर समाप्त किया। शेखर जोशी केन्द्रित यह विशेषांक बहुत रोचक था। शेखर जोशी को पढ़-जान चुके लोगों के साथ-साथ उनको पहले-पहल जानने वालों के लिए यह अंक जानकारीयों का समुद्र था। हमारी पीढ़ी वालों के लिए उनके बारे में फिर से पढ़ना, उनकी रचनाओं की पुनर्यात्रा, उन पर पुनः चर्चा-विमर्श सभी कुछ यादों के झरोखे से गुज़रने के समान था। शेखरजी की कहानी ‘आशीर्वचन’ का यह वाक्य- ‘हमारा कुरुक्षेत्र था हमने लड़ा, इनका कुरुक्षेत्र ये लड़ेंगे’ जैसे इन शब्दों में पूरे जीवन का निचोड़ रख देता है सामने। विश्वनाथ त्रिपाठी, नवीन, जोशी, महेश दर्पण, वाचस्पति, हरियश राय, सिद्धार्थ शंकर राय इन सभी के लेख एक से बढ़कर एक! सभी शेखर जोशी को खलकर-खोलकर रखने वाले।

इसके साथ ही स्मरण लेख के रूप में मुक्तिबोध के रचनाकर्म पर विमर्श भी अच्छा है परन्तु और भी लिखा जाता तो आनन्द आता। विश्वास है कि सम्पादक मंडल इस प्रकार के विशेषांकों का क्रम अनवरत् जारी रखेंगे। अगले अंक की प्रतीक्षा में!

-भद्रसेन सिंह

आईटीआई, कटरा बस्ती

प्रसंगवश

फ्रांसीसी लेखिका ऐन्नी अर्नाउ संस्मरणकार के तौर पर ख्यात रही हैं। वे जीवन के बेहद छोटे, सूक्ष्म विवरणों को अपने संस्मरणों में शामिल करती हैं, अनुभूत सत्य का उद्घाटन करती हैं। उनके संस्मरणों में एक विरल किस्म की चित्रात्मकता है। यह अन्य किसी भी लेखक से अलग और विशिष्ट है। वे कहती हैं कि मैं किसी भी ऐसे दृश्य पर तब तक काम करती हूँ जब तक कि मेरा अंतर्मन यह न कह उठे कि हाँ, मैं यही चाहती हूँ। मैं अपनी स्मृति में अंकित हर उस घटना को लिख देना चाहती हूँ जिनका बोझ मैं वहन नहीं कर पा रही अथवा जिन्हें याद करने मात्र से आह्लाद से भर जाती हूँ। इन संस्मरणों के विवरण ऐसे जैसे, एक के बाद एक दृश्य सामने से गुजरते चले जा रहे हों। मानो पाठक कोई वृत्तचित्र देख रहे हों। ये विवरण और चित्र फ्रांसीसी साहित्यिक समाज के स्वीकृत और प्रचलित विवरण से अलग हैं। ये हमें उस समाज में ले जाते हैं जिसकी तस्वीर आम तौर पर फ्रांसीसी साहित्य प्रस्तुत नहीं करता है। अर्नाउ की पारिवारिक पृष्ठभूमि इसे सम्भव बनाती है। वे फ्रांस के स्थापित साहित्यिक समाज से नहीं आतीं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के फ्रांसीसी समाज और पीढ़ियों पर उनका अध्ययन गहरा है। यह उनके प्रिय संस्मरणों की पुस्तक 'द इयर्स' के पाठ से प्रकट होता है। गरीबी और जर्मन आधिपत्य से गुजरे पिछली पीढ़ी के वृद्ध लोगों की स्मृतियों को लिखते हुए वे जिन शब्दों का इस्तेमाल करती हैं वे अब तक फ्रांसीसी साहित्य का हिस्सा नहीं रहे हैं। ये शब्द-विवरण और दृश्यांकन ही उनके लेखन को न केवल विश्वसनीय बल्कि विरल बनाते हैं।

अक्टूबर का महीना हर साल नोबेल पुरस्कारों की घोषणा का महीना भी होता है। इस साल साहित्य के नोबेल के लिए चयन समिति ने फ्रांस की इसी संस्मरण लेखिका ऐन्नी अर्नाउ के नाम की घोषणा की है। 2022 के साहित्य के नोबेल पुरस्कार की घोषणा करते हुए समिति ने कहा कि यह पुरस्कार उन्हें निजी स्मृतियों में अपनी जड़ों, एकाकीपन और सामूहिक संयम के उनके साहस और यथार्थ वर्णन के लिए दिया जा रहा है। पुरस्कार समिति ने कहा कि अर्नाउ लेखन के बन्धन मुक्त करने वाली ताकत में भरोसा रखती हैं। उनका लेखन समझौते नहीं करता। यह सरल भाषा में वंचित तबके के दुख, अपमान, शर्म, ईर्ष्या व सामर्थ्यहीनता की परतें खोलता है और साहस के साथ सच्चाई का सामना करता है।

82 वर्षीया अर्नाउ का जन्म फ्रांस के एक छोटे से नगर नॉर्मन्डी में हुआ था जहाँ उनके माता-पिता की किराने की दुकान थी। उनका अधिकांश लेखन आत्मकथात्मक है जिनमें, जैसा पहले कह चुका हूँ, अचूक विश्वसनीयता के साथ वे लिंग-भेद, वर्ग-भेद, भाषा, स्मृति, प्रेम और अभाव का इस अंदाज़ में वर्णन करती हैं मानो समूची लेखन-यात्रा सत्य की तलाश की यात्रा हो। अमरीकी आलोचक एडम गोपनिक एक लेख में कहते हैं कि अर्नाउ अपने लेखन के जरिए फ्रांसीसी यथार्थ और सत्ता का अक्षत चित्र प्रस्तुत करती हैं। वे आगे लिखते हैं कि एक नज़रिए से देखा जाए तो अर्नाउ का लेखन अपने-आप में एक प्रकार का समाजशास्त्र है। संस्मरणों की कवितानुमा दृश्यात्मकता और सत्यनिष्ठा ने उन्हें नोबेल पुरस्कारों के इतिहास में संस्मरणों के लिए यह पुरस्कार पाने वाली पहली लेखिका बना दिया है।

उनका पहला उपन्यास सन् 1974 में 'लेज आर्मी वीद' (क्लीन्ड आउट) नाम से प्रकाशित हुआ जिसमें वे एक बीस वर्षीया युवती के गैर कानूनी गर्भपात के बाद उत्पन्न स्थितियों की कहानी कहती हैं। 'लिवनिमौ' (हैपेनिंग्स), 'सिंपल पैशन', 'अ गल्ट्स स्टोरी', 'अ मैन्स प्लेस', 'अ वुमन्स स्टोरी', 'शेम' एवं 'द इयर्स' उनकी अन्य कृतियाँ हैं। ये सभी उपन्यास संस्मरणात्मक और आत्मकथात्मक हैं। 'अ मैन्स प्लेस' में वे अपने पिता और 'अ वुमन्स स्टोरी' में अपनी माँ की कहानी कहती हैं। 'द इयर्स' नामक महत्वाकांक्षी पुस्तक 1941-2006 के बीच के उनके सम्पूर्ण जीवन की कथा है।

अर्नाउ मूलतः एक स्त्रीवादी और जनवादी लेखिका हैं। वे कहती हैं कि मैं अपनी जगह स्त्रीवादी लेखन में देखती हूँ— दैनंदिन और अंतरवर्गीय स्त्रीवाद में। श्वेत-अश्वेत के बीच विभाजन करने वाली और जातीय स्त्रीवाद को वे सर्वथा नापसन्द करती हैं और कहती हैं कि मैंने हमेशा श्वेत, बुर्जुआ और इस्लाम को निशाना बनाने वाली स्त्रीवाद का विरोध किया है। उनका मानना है कि लेखन समता और न्याय की दिशा में किया गया प्रयास है। इसलिए वे चाहती हैं कि लेखकों को सामाजिक बहसों और दूसरे समाजों के लिए किए जाने वाले संघर्ष में शामिल होना चाहिए। 'पोलितीस' नामक एक फ्रांसीसी समाचार पत्र को दिए गए साक्षात्कार में वे कहती हैं कि अंततः हम लेखकों को दैनंदिन जीवन को प्रभावित करने वाली चीजों, घटनाओं मसलन, शिक्षा, स्कूल, रोजगार, स्त्रीवाद, संस्कृति, समता, पर्यावरण पर बातचीत में शामिल होना होगा।

नोबेल पुरस्कार समिति ने पिछले कुछ वर्षों के दौरान पारम्परिक रूप से स्वीकृत साहित्यिक विधाओं से इतर पत्रकारिता, डायरी-लेखन तथा पॉप संगीत के निमित्त लिखे गए गीतों को भी पुरस्कार के लिए चुना है। संस्मरण लेखिका के लिए घोषित इस वर्ष का पुरस्कार इस कड़ी में नई आमद है। नोबेल पुरस्कारों पर नज़र रखने वाले समालोचकों की नज़र में पुरस्कार समिति का यह चयन इस बात की भी तस्दीक करता है कि उपन्यास-लेखन की परिपाटी शिथिल पड़ जाने के बाद सृजनात्मक साहित्य की बजाय आज जब हर तरफ़ से एक किस्म का धुंध, बनावटीपन और अविश्वसनीयता का माहौल है, ठगी की हद तक कृत्रिम व झूठी सामग्री परोसी जा रही है, वैसे में सर्जनात्मक साहित्य की जगह पाठकों को ऐसी सामग्री की तलाश है जो विश्वसनीय हो, जिसकी निजी जीवन में जाँच-परख की जा सके और जो लेखक का अनुभूत सत्य हो। यदि ईंट-दर-ईंट रचना की संरचना सच से निर्मित हो, उस पर अनुभव का गारा लगा हो तो संस्मरणों से बेहतर और विश्वसनीय भला और कौन-सा साहित्य हो सकता है !

स्त्री-सरोकारों की गहन पहचान बिना स्त्री-लेखन वृथा है

रोहिणी अग्रवाल



लब्धप्रतिष्ठ कथाकार ममता कालिया की रचनाशीलता पर बात करना हिन्दी के समूचे स्त्री-लेखन के क्रमिक विकास से रूबरू होना है। गत पचास वर्षों से साहित्य-रचना में रत ममता कालिया के साहित्य में स्त्री-सशक्तीकरण की ध्वनियाँ भी निबद्ध हैं, और आज के लगातार उन्नत होते स्त्री-संवेदी समाज एवं स्त्री-द्वेषी मानसिकता के बीच की टकराहटों से आकार लेते स्त्री-विमर्श की अनुगूँजों को थाहने की व्यग्रता भी है। यही नहीं, पूर्ववर्ती परम्परा के विकासपरक प्रभाव को भी उनके लेखन के ज़रिए आँका जा सकता है। 1971 में प्रकाशित उपन्यास 'बेघर' के साथ ममता कालिया समकालीनों के बीच अपनी अलग पाँत बनाती नज़र आती हैं। इसकी दो वजहें हैं। एक, वैश्विक स्तर पर यह समय फ़ेमिनिज़्म की दूसरी लहर यानी उग्र स्त्रीवाद (रैडिकल फ़ेमिनिज़्म) का समय है। वर्जीनिया वुल्फ़, सीमोन बोउवा, केट मिलेट और बेटी फ्राइडन समेत तमाम उदारवादी स्त्री-चिन्तकों के समावेशी स्वरों को खारिज करते हुए उग्र स्त्रीवाद स्त्री यौनिकता पर आत्म-नियंत्रण की पुरजोर आवाज़ बुलन्द करता है; गर्भनिरोधक उपायों का इस्तेमाल करने की स्वतन्त्रता से लेकर गर्भपात कराने की स्वतन्त्रता और गोद लेने के अधिकार के लिए झंडा उठाता है; पितृसत्ता द्वारा अनुमोदित स्त्री-सौन्दर्य के मिथकों और मानदंडों को ध्वस्त करते हुए स्त्रीत्व की नई परिभाषा गढ़ता है। यह दौर पुरुष के नियन्त्रण से छूटकर स्त्री द्वारा स्वयं अपनी राहों का अनुसंधान करने का दौर है जहाँ निष्क्रिय कराहें ओज की सकर्मकता में तब्दील हो जाती हैं और पितृसत्ता के वर्चस्व को चुनौती देकर स्त्री की जातीय अस्मिता की पुनर्रचना के लिए कमर कस लेती हैं। यह समय संशय और संघर्ष का समय रहा है। पूर्ववर्ती परम्परा जहाँ थोड़ी-सी दया, थोड़ा-सा स्पेस पाकर घेरों में बँध कर खड़ी स्त्री की कातरता को लेकर समाज व्यवस्थाओं का मनोविश्लेषणात्मक चरित्र उकेरने के बाद भी मुक्ति की राहें नहीं पा सकी, वहीं 71 के बाद का उग्र फ़ेमिनिज़्म स्त्री-दमन की परम्परा को सवाल बनाकर प्रतिरोध और पुनर्निर्माण की लड़ाई हेतु सड़कों पर उतर आता है। उल्लेखनीय है कि हिन्दी और हिन्दीतर भाषाओं का आधुनिक स्त्री-लेखन विकास की प्रारम्भिक अवस्था में किंचित उग्रवादी प्रकृति का रहा है। पंडिता रमाबाई और



ताराबाई शिन्दे से लेकर अज्ञात हिंदू महिला और शिवरानी देवी तक के प्रखर स्वर पितृसत्ता को मज़बूती देने वाली सांस्कृतिक संरचनाओं, विशेषकर मनुस्मृति, पर न केवल करारी चोट करते हैं बल्कि स्त्री को कर्ता की भूमिका में उतार कर पुरुष की पिछलगू निष्क्रिय भूमिका से मुक्त करने का आह्वान भी करते हैं लेकिन धीरे-धीरे संघर्ष के स्वर शिथिल होकर जिस प्रकार कातरता, उपालम्भ और लाचारी में बदलते गए हैं, उसके क्रमिक इतिहास को चन्द्रकिरण सौनरेक्सा से लेकर नई कहानी की तीनों महत्वपूर्ण स्त्री रचनाकारों की रचनाशीलता तक देखा जा सकता है। ममता कालिया स्त्री-लेखन के इस आत्म-संकीर्ण भावुक वैचारिक प्रतिरोध को 'बेघर' उपन्यास में ललकार कर तोड़ देती हैं।

'बेघर' अपनी आंतरिक संरचना में सिर्फ़ कथानायिका संजीवनी की हताशा का उपन्यास नहीं है। बेशक ऊपरी तौर पर संजीवनी की हताशा में अपराध-बोध की जड़ें बहुत गहरी दिखाई पड़ती हैं और शिकायती स्वर में अपने-आपको जस्टिफ़ाई करने की चाहतें उसकी बेचारगी को उभारती प्रतीत होती हैं लेकिन ममता कालिया नई कहानी आंदोलन की पूर्ववर्ती लेखिकाओं की तरह भावुकता और रोमांस को स्त्री का परिचय नहीं बनातीं। वह स्त्री की कथा कहती ज़रूर हैं, लेकिन स्त्री की ओर से लड़ाई का मोर्चा नहीं खोलतीं। दरअसल व्यक्ति-इकाई उनके लिए मानी-खेज़ है ही नहीं, बल्कि व्यक्ति को व्यवस्था का विक्टिम बनाने वाली शातिर जालसाज़ियों की पड़ताल उनकी जाँच का विषय है; और इस जतन में वह इतनी निस्संग आत्मीयता से जुट जाती हैं कि स्त्री-पुरुष दोनों पितृसत्ता से पीड़ित इकाइयों के रूप में उभर आते हैं जिन्होंने समाजानुमोदित लैंगिक पूर्वाग्रहों को ढोते-धोते अपनी लिंग-निरपेक्ष मानवीय अस्मिता को नष्ट कर दिया है। ममताजी संजीवनी से ज़्यादा परमजीत पर फ़ोकस इसलिए करती हैं कि समाज को बता सकें, स्त्री-मुक्ति आंदोलन का अर्थ पुरुष नियंत्रण से स्त्री की मुक्ति नहीं, वरन् पितृसत्ता के वर्चस्व से स्त्री-पुरुष दोनों की मुक्ति है। उल्लेखनीय है कि सांस्कृतिक संरचनाओं को प्रश्नांकित करने के छूटे हुए ज़रूरी मुद्दे को वह एक बार फिर उपन्यास के केन्द्र में ले आती हैं। उन्हें पश्चिम के यौन-स्वतन्त्रता के आग्रहों से ज़्यादा ज़रूरी लगता है यौन-शुचिता की अवधारणा को लेकर भारतीय समाज की बन्द सोच पर प्रहार करना।

सम्पर्क : मो. 9416053847, ई-मेल : rohini1959@gmail.com

ममता कालिया का लेखन धीमे-धीमे आगे बढ़ते हुए स्वयं लेखिका की विकास-यात्रा का भी परिचायक है। एक प्रखर स्त्री-चिन्तक होने के नाते उन्हें संजीवनी की चुप्पी खलने लगती है। इसलिए कि समाज स्त्री की चुप्पी में सुलगते सवाल को सुनने का आदी नहीं है। फलतः स्त्री की आवाज़ को घोंटने वाली पारिवारिक-सामाजिक संरचनाओं में वह दीपशिखा नहीं, अग्निशिखा बनकर अपने कंठ से ज्वालामुखी धधकाने वाली स्त्री की कल्पना करती हैं। 'बोलने वाली औरत' कहानी की स्त्री नई कहानी आंदोलन की लेखिकाओं की स्त्री की तरह न नीलकंठ बनना चाहती है, न विष की इक्का-दुक्का फुफकारों का अगल-बगल वर्षण कर क्रान्तिजीवी होने का झूठा सुख बटोरना चाहती है। वह सच को सच कहने का माद्दा रखती है जिसे उनकी एक और बेहतरीन कहानी 'लड़कियाँ' में भी देखा जा सकता है।

ठीक यहीं ममता कालिया की दो कहानियों का स्मरण हो आता है- 'दाम्पत्य' और 'जाँच अभी जारी है'। मानो क्रमशः रमा और संजीवनी जैसी स्त्रियों को केन्द्र में रखकर वह एक बार और समाज-संस्थाओं और पुरुष-मनोविज्ञान की टोह लेने निकली हों। 'दाम्पत्य' कहानी बीस बरस का सुखी वैवाहिक जीवन जीते दम्पति की कहानी है। 'सुखी' शब्द की अंतर्ध्वनियों में आह्लाद और संतोष, पारस्परिकता और सम्वाद का जो भाव अनायास गुँथा होता है, वह यहाँ नदारद है। विवाह मानो क्षणिक यौन-तृप्ति और संतति-सृष्टि की यान्त्रिकता है। इसके परे जो है, वह अपने अस्तित्व की जमीन को बचाने के लिए एक-दूसरे पर दोषारोपण की बड़ी हुई कवायदें हैं। घनघोर एकात्मकता और सघन परिचय के बीच दोलायमान विवाह संस्था के खोखलेपन का पर्दाफाश है 'दाम्पत्य' कहानी। जहाँ 'मोहब्बत' की पाकीज़गी 'मशक्कत' (देह-मिलन) की दैहिक अश्लीलता में रिड्यूस हो जाती है; वहीं मिल-बैठकर इस जड़ता से उबरने की कोशिश करने की वैचारिक पहल दोनों में किसी ओर भी दिखाई नहीं देती, मानो अपने-अपने दलदल में गहरे धँस कर कमल की तरह उग आना ही जीवन का एकल धर्म रह गया हो। ममता कालिया चूँकि स्त्री को अनावश्यक सहानुभूति देकर उसका महिमामंडन नहीं करना चाहती (जैसा पूर्ववर्ती पुरुष लेखन में बहुतेरा हुआ है), इसलिए पुरुष को प्रवक्ता बनाकर उसकी दृष्टि से पितृसत्ता के घेरों-खंदकों की यात्रा भी वह तय कर आती हैं। कहानी 'दाम्पत्य' में कथानायक आलोक की दृष्टि को लेखिका पति-पत्नी के अंतर्वैयक्तिक सम्बन्धों की जाँच का सबब बनाती हैं। पत्नी, पति की दृष्टि में, आत्म-संकुचित, मूढ़ और ठंडी है। पत्नी के प्रति रुचि और उपेक्षा को वह अपने भीतर तक धँसा पाता है, और कबूल करता है कि पत्नी की रुचियों, इच्छाओं, मनोद्वेगों, सपनों से वह उतना ही अनजान है जितना अपने दफ्तर की महिला सहकर्मियों से; कि पत्नी जैसी खामियों के बावजूद पड़ोसन सुधा तिवारी उसे 'उतनी बुरी नहीं लगती'; कि दाम्पत्य सम्बन्ध में ऊष्मा लाने के लिए "सहमति, सहानुभूति, सहयोग, संजीदगी और सहनशक्ति जैसे कुछ शाश्वत सूत्रों को अपने जीवन में उतारना बहुत कठिन है" उसके लिए। ममताजी कथानायक आलोक के जरिए स्त्री-संवेदी पुरुष की परिकल्पना करने का मनोहारी 'सुख' नहीं लूटतीं लेकिन आत्मावलोकन करते पुरुष के रूप में एक ऐसी संक्रमणशील पीढ़ी का स्वप्न जरूर बुनती हैं जो मन के भीतर छिपे तहखानों में जाकर स्त्री की पराधीनता में तन्त्र और पुरुष की भागीदारी को समान रूप से रेखांकित कर सके। ऐसा स्त्री-संवेदी पुरुष ही दरअसल स्त्री-विमर्शकारों की चिरसंचित साध है जिसे कथाकार शिवेंद्र के उपन्यास 'चंचला चोर' और तरुण भटनागर के उपन्यास

'बेदावा : एक प्रेम कथा' में दृष्टिगत किया जा सकता है। अलबत्ता 'जाँच अभी जारी है' कहानी में भविष्य के उर्वर गर्भ में साँस लेता यह स्त्री-संवेदी पुरुष प्रत्यक्ष नहीं हुआ है। वहाँ सामंतवादी संस्कारों से लैस पुरुषों का संजाल है जिनके लिए स्त्री मात्र देह है और वे स्वयं आखेट के लिए निकले नर-भेड़िए। नौकरीपेशा स्त्रियों की उपस्थिति अब समाज में सामान्य बात हो गई है, लेकिन रुग्ण मानसिकता वाले समुदाय में आज भी यह बात घर किए हुए है कि सज-सँवर कर घर से बाहर निकलने वाली स्त्री 'सती' नहीं होती। 'जाँच अभी जारी है' कहानी स्त्री की स्मिता, स्वाभिमान और आत्मविश्वास को पितृसत्ता द्वारा क्रमशः क्षरित करते चलने की सशक्त कहानी है जो सुनार की हल्की चोट की तरह कहानी के इकहरे पाठ में अर्थगड़िन आयामों को बुनती चलती है।

तो ऐसे में स्त्री क्या करे? विवाह संस्था की मानवीयता से चोट खाकर चिरकुमारी रहे? या मर्दविरोधी दृष्टिकोण अपनाकर मर्दवादी पुरुषों की मानसिकता का ही प्रसार बन जाए? ये सवाल 'चिरकुमारी' कहानी की पैंतीस वर्षीया विवाहिता दिशा के सामने मौजूद हैं। "शादी के नाम पर वह अपनी आज़ादी और आत्मनिर्भरता दाँव पर नहीं लगाना चाहती।" तो क्या वह 'पचपन खंभे लाल दीवारें' की चिरकुमारी दुर्गा की तरह बिल्ली पाल कर साथी और मातृत्व की नैसर्गिक हाँस पूरी कर ले? "जानवरों के बारे में सबसे अच्छी बात यह होती है कि वे प्रतिवाद नहीं करते। प्रेमी होते हैं।" वह सोचती है और अपनी जड़ सोच की वजह से सिहर जाती है कि कहीं "वह तेज़ी से अंधेड़ होती हुई एक सिरफिरी औरत" तो बनकर नहीं रह गई है? 'मुखौटा' संग्रह में संकलित यह कहानी जिस समय प्रकाशित हुई, उस समय क्षितिज पर लिब-इन रिलेशनशिप का विकल्प नहीं उभरा था। न ही 'लिहाफ़' (इस्मत चुगताई) के बावजूद समलैंगिक यौन सम्बन्धों को उजागर करने का साहस तत्कालीन भारतीय समाज में था। सोचती हूँ, यदि ये विकल्प लेखिका के सामने मौजूद होते तो क्या वे इन पर विचार करतीं? लिब-इन ही नहीं, समलैंगिक सम्बन्ध भी जिस तरह धीरे-धीरे वैवाहिक रूढ़ियों में बँध कर स्त्री एवं स्त्री आइडेंटिटी पार्टनर का शोषण करने लगते हैं, उससे यही ध्वनित होता है कि विवाह संस्था के आग्रहों, अपेक्षाओं और मन्त्रपूत परिकल्पनाओं में आमूल परिवर्तन किए बिना नया विकल्प सम्भव नहीं।

ममता कालिया की ख़ासियत है कि वह अपने-आप में घुटती नायिका को अपनी प्रवक्ता नहीं बनातीं। समय के भीतर पैठी विघटनशील फाँकों को सम्बोधित करते हुए वह कर्ता नायिका को रचती हैं जिसमें अपनी दृष्टि की प्रखरता और व्यक्तित्व का ओज घोलकर वे रोती-बिलखती स्त्री को बाहर का रास्ता दिखा देती हैं। इस दृष्टि से उनकी दो कहानियाँ- 'लड़कियाँ' और 'वह मिली थी बस में' का उल्लेख जरूरी है। 'वह मिली थी बस में' कहानी रात के समय बस का सफ़र करती एकाकी स्त्री की कहानी है लेकिन इक्कीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में रचित लवलीन की कहानी 'सुरंग पार की रोशनी' का स्मरण कराने के बावजूद यह उससे बिल्कुल भिन्न है। ममताजी की इस कहानी में नायिका अकेली स्त्री मुसाफ़िर नहीं है। उसकी बग़ल में बैठी है गाँव देहात की 'सीधी'-सी औरत। बस जगह-जगह रुकती चलती है- कहीं ड्राइवर-कंडक्टर को खाना-खाना है; कहीं खाना खाने से पूर्व शराब का अद्धा गटकना है; कहीं खाना खाने के बाद शरीर की भूख को मिटाना है। ज़्यादातर मुसाफ़िर उस रूट की नियमित सवारियाँ हैं। ड्राइवर-कंडक्टर के रूटीन से वाकिफ़ वे बेफ़िक्री से अश्लील हँसी हँस देते हैं बस।

नायिका के लिए यह अनुभव जानलेवा है। हर तरह की दुश्चिन्ताओं ने उसे घेर लिया है कि यौन-आक्रमण हुआ तो अकेली क्या करेगी वह? दुश्चिन्ता पसीना बनकर देह पर छा जाती है। निर्विकार बैठी बगल वाली देहाती स्त्री अचानक खीझ उठती है कि ऐसी भी क्या बेचारगी, “सुनो, वैसन तो बड़ी मेम साहब बनी हो। कटे बाल, रेशमी साड़ी, बोली भी गिटपिट पर हिम्मत के नाम पर निरी लीद हो।” पहले तो उसके लिए यही कल्पना असह्य है कि कोई आकर दबोच लेगा- “के दबोचबे? गटई दबा देई”, और अगर कोई जबरा समूह बाँधकर ऐसी हिमाकृत कर भी दे- “तो का। धो धा के आ जाईत हैं घरे। रे, कौनो चोट-चपेट लगे तो मरा थोड़ो न जाई। ई देही त देही है, कौनो मसीन नहीं कि कलपुर्जा बदल लेय।”

ठीक इसी बिन्दु पर मैं रुक जाती हूँ। आलोचक की तरह सोचती हूँ, कहानी वह तो नहीं जो पाठ की समाप्ति के बाद खत्म हो जाए। कहानी वह भी नहीं जो लेखक द्वारा दिखाए गए दृश्यों, चरित्रों, द्वारों की गिरफ्त में चेतना बाँधकर पाठक को लड्डू-सा घुमा दे। कहानी उपभोग-सामग्री भी नहीं कि भूख शान्त करके पाठक को शयनकक्ष में निष्क्रिय जुगाली के लिए ले चले। कहानी एक व्याकुलता है जो पाठ के बाद प्रभाव की ध्वनि-तरंगों के जरिए पाठक के भीतर पैबस्त होती है। इन प्रभाव-तरंगों से बैधा पाठक उस समस्या-विशेष पर विचार करने लगता है; समय के साथ जुड़कर समयातीत होने का रचनात्मक औदात्य पाने लगता है; विश्लेषण की बौद्धिक गहराइयों में डूबकर भविष्य के लिए बेहतर आसमान की कल्पना करने लगता है। रचना का हैंगओवर शराब के हैंगओवर की तरह बेजा सिरदर्द नहीं देता। सिरदर्द बन चुकी रूढ़ियों-परवचनाओं को पहचानने और बदलने की वैचारिक तमीज देता है। यहीं पाठक बिना क्लम उठाए सह-सर्जक हो जाता है और यही वैचारिक व्यग्रता साहित्य का प्राण तत्त्व बन जाती है। यहाँ पहुँच कर मैं कथालोचक की भूमिका छोड़ पाठक की भूमिका में उतर आती हूँ, और कहानी-पाठ के बाद अपने मन को तरंगाथित करती प्रभाव-तरंगों का विश्लेषण करने लगती हूँ। पाती हूँ कि कहानी पढ़ने के बाद मैं ताली पीटकर देहाती स्त्री की ‘बहादुरी’ की दाद नहीं दे रही हूँ, बल्कि अपने तलघर में ऐसी ही फनफनाती उग्र हँकारों को सुनने लगी हूँ। लेकिन क्या इतना ही? समाज में अपनी सर्व-स्वीकार्यता के मोह में इनके मुँह में कपड़ा ढूँँस कर लीक पर चलता नकली जीवन जी रही यह कमजोर स्त्री क्या मैं ही नहीं हूँ? क्यों नहीं उस ग्रामीण स्त्री की निर्भीकता और ईमानदारी मेरा अपना ठोस व्यक्तित्व बन पाई? बेशक, यौन हिंसा एक तरह का हादसा ही तो है। दुर्घटना में हड्डी टूट जाए, मारपीट-दंगे में रक्त सने घाव से देह जर्जर हो जाए तो पूरा समाज सहानुभूति लिए उमड़ आता है। फिर प्रताड़िता स्त्री के साथ हुए बलात्कार को हादसा न मान सामाजिक कलंक का विषय क्यों और कौन बनाता है? मैं आँख खोलकर आस-पास के समाज का मुआयना करने लगती हूँ। जुगुप्सापूर्ण इनसेस्ट सम्बन्ध इन-तथाकथित घरों के तहखाने में दबे रहते हैं। दबंगों द्वारा छोटी जातियों को उनकी औकात बताने के लिए लिंग का तलवार की तरह इस्तेमाल किया जाता है। पोक्सों जैसे कानूनों के बावजूद अपराधी बेदाग छूटकर समाज में मान-मर्यादा सब पा जाते हैं। तो इस जहनी जहालत के लिए किसे दोष दूँ? तुरंत उँगली मीडिया की तरफ उठती है- विवाह, परिवार, धर्म, न्याय संस्था के बाद पितृसत्तात्मक व्यवस्था की पाँचवीं महत्वपूर्ण संस्था मीडिया की ओर। मुझे यह स्वीकारने में कोई संकोच नहीं कि भारतीय

मीडिया का बुनियादी चरित्र पितृसत्तात्मक है। स्त्री-विद्वेष उसे सक्रिय और मुखर बनाता है। इसलिए बलात्कृता स्त्री के प्रति झूठी हमदर्दी पैदा करने के नाम पर वह जिस अंदाज़ में सामाजिक कलंक, यौन शुचिता, स्त्री की बुनियादी दायम स्थिति और सतीत्व की बातें धीमे ज़हर की तरह 21वीं सदी की न-आलोचनात्मक पीढ़ी की रगों में उतार रहा है, उससे स्त्री के गिर्द ही कठघरे मज़बूत होते चलते हैं। सतीत्व की अवधारणा उल्टे क़दम चलते-चलते सूर्यमश्या स्त्री की कल्पना करने लगती है और धाकड़ निडर स्त्री कुटनी/डायन की शकल अख़्तियार करने लगती है। कहानी अपनी अंतिम परिणति में समय की शिनाख़्त का आह्वान है और समय को बनाने में नागरिक के तौर पर पाठक की अपनी भूमिका का संज्ञान भी। इस नोट पर ममता कालिया की कहानियाँ अपने सादगीपूर्ण सौन्दर्य के साथ मुझे समय की छाती पर उकेरे गए स्मारक की याद दिलाती हैं।

लेकिन ‘लड़कियाँ’ कहानी ममता कालिया के चिर-परिचित शिल्प से परे जाकर अपना अलग वितान रचती है। ममताजी के शिल्प की कुछ खास विशेषताएँ हैं- सीधी-सरल एक दिशा में बढ़ती गति; रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से उठाई गई कुछ दृश्यावलियाँ जो ऊपरी तौर पर बेहद मामूली और घटनाविहीन हैं; सीधे-सरल चरित्र जो निष्कपट दर्पण की तरह अपने अंतर्मन को उलीच कर रख देते हैं; दादी-नानी की कहानियों-सी क्रिस्सागोई जो पाठक को साथ बहा ले जाती हैं और कौतूहल को रोचकता की चाशनी में लपेट उसे लेखक का मुखापेक्षी बनाए रखती है। चिन्तन-विश्लेषण मानो इस पूरी प्रक्रिया में लुप्त हो गया है और जाहिर है वैचारिकता का बौद्धिक विकास उनकी कहानी की ज़मीन में कहीं दखलअंदाज़ी करता दिखाई नहीं देता। भान होता है की उर्वर ज़मीन पाते ही उनकी कहानियाँ अपने-आप उग आने वाली जंगली वनस्पतियाँ हैं लेकिन यह भी तय है कि आयासहीनता को साधना सबसे मुश्किल काम है। ममताजी दृश्य बुनती हैं; दृश्य सूचनाएँ देते हैं; सूचनाएँ समय की भीतरी तहों में छुपे वीभत्स यथार्थ को सामने लाती हैं। इस निरायास शिल्प का ख़तरा यह भी है कि पाठक झरने के बहते प्रवाह में भीग कर इतना आनन्दमग्न न हो जाए कि सूचनाओं द्वारा सम्प्रेषित विकृतियों की तह तक पहुँचने का जोखिम ही न उठाए।

‘लड़कियाँ’ कहानी में लेखिका हवाखोरी के लिए निकली दो सहेलियों सुधा और आशा के साथ चलते-चलते क्रिस्सागोई के चिर-परिचित अंदाज़ को अनायास अनुभव में बदल देती हैं। स्मृति में पैठा अतीत का बीता क्षण गुंजलक भरा वर्तमान बन जाता है। अल्हड़ किशोरियों की तरह मानो लेखिका स्वयं शाम के गहराते झुटपुटे में हवाखोरी के रोमांस की उत्तेजना महसूसती हैं; लपटदार आग के सौन्दर्य को ढूँढने के लिए बाड़ाबन्द हाते को फलाँगते हुए खुश हो जाती हैं; सामने खड़े नशेड़ी नागा बाबा को देख भय से सिहर जाती हैं; फिर जान बचाने के लिए दोपट्टे-चप्पल-चोट की परवाह किए बिना यूँ सरपट दौड़ती हैं कि घर आकर ही रुकती हैं। गुलामी की सुरक्षा में बाड़ाबन्द लड़कियों ने बाहर की दुनिया की निर्जनता में साँस लेती रहस्यात्मकता और भयावहता को, विकृति और अश्लीलता को कहाँ देखा है? लड़कियों का बाहरी दुनिया से जुड़ा तमाम ज्ञान किताबों और मीडिया से मिली जानकारीयों पर आधारित है या पारिवारिक-सामाजिक वर्जनाओं पर। संस्कार (अच्छी लड़कियों को परिवार की निगरानी में घर पर ही रहना चाहिए) और वर्जनाजन्य भय (बलात्कार एवं यौन हिंसा) ने बाल-बाल

बच कर सुरक्षित घर लौटी लड़कियों में भी अपराध-बोध पैदा कर दिया है। इस हादसे के बाद सम्भवतः वे निर्द्वन्द्व न घूमतीं; अनुभव को कसैले सामाजिक ताने-बाने में गूँथ कर अधिक विवेकशील हो जातीं; समूची स्त्री जाति को पंगु बना देने वाली व्यवस्थाओं का गहन अध्ययन कर पातीं; लेकिन इसके विपरीत वे महसूस करती हैं कि परिवार और समाज ने उनके इर्द-गिर्द घेरे, कठघरे और पहरे सुदृढ़ कर दिए हैं। घर-बाहर संशय अपनी जगह डोल हैं कि बलात्कार के बिना न कपड़े यूँ फटते हैं, न बदन पर खरोचें लगती हैं; कि आवारा लड़कियाँ ही लड़कों को फाँसने के चक्कर में बलात्कार का शिकार होती हैं। टूँठ और बहरों के बीच अपनी बात न कह पाने की त्रासदी भोगती ये लड़कियाँ स्वयं को अंधी गली में खड़ा पाती हैं। साथ ही पाती हैं कि परिवार और समाज भी उनके साथ इन अंधी गलियों में खूँटा गाड़ कर डोल बैठा है। कमंद की तरह बढ़े उनके दो जोड़ी हाथ थाम कोई बाहर निकलने को भी तैयार नहीं। ज़ाहिर है अन्य कहानियों से भिन्न ममताजी की इस कहानी में चरित्र अपनी विशिष्ट बुनावट लिए नज़र आते हैं। छोटे से घेरे में घूमते हुए भी अपने साथ पूरे समय के मनोविज्ञान और समाज व्यवस्थाओं के शास्त्र को क्रमशः विश्लेषित करते चलते हैं। तनाव, द्वन्द्व, भय, अपमान, आक्रोश, आवेग और प्रतिरोध इन दोनों लड़कियों के व्यक्तित्व को रचने वाले कुछ रंग हैं जो उनकी तासीर को जितनी चमकीली गाढ़ी तासीर देते हैं, समाज की भीतरी धड़कनों को भी उसी अनुपात में उभारते चलते हैं। धड़कन इस कहानी की विशेषता है जो तुलनात्मक दृष्टि से उनकी अन्य कहानियों में इतनी जीवंतता से सुनाई नहीं देती। अलबत्ता 'दुःखम सुखम' उपन्यास इसका अपवाद है। इस आत्मकथात्मक उपन्यास में विद्यावती और उनकी पौत्रियों के जरिए स्वतन्त्रतापूर्व एवं स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय समाज अपनी नीम जड़ता, संक्रमणशीलता, स्वप्न-संघर्ष की झिलमिलाहट के साथ प्रत्यक्ष हुआ है तो लोक-जागरण का प्रसार करती राजनीतिक हलचलों की टोह भी ली गई है।

ममता कालिया अपनी रचनाओं में राजनीति को केन्द्र में नहीं रखतीं, लेकिन पाती हैं कि राजनीति का दखल जीवन के हर क्षेत्र में है। राजनीति का एक सिरा यदि सम्बन्धों और आचार-व्यवहार की राजनीति से होकर गुज़रता है तो दूसरा सिरा स्वार्थ के दलदल में गहरे धँसा है। 'सुलेमान' कहानी हो या 'सेमिनार'; 'दौड़' उपन्यास हो या 'एक पत्नी के नोट्स' उपन्यासिका- वह पाती हैं कि जीवन से सरलता, निश्छलता, सौहार्द्र और विश्वास ओस की तरह कहीं लुक-छुप गए हैं। शेष रह गई हैं समृद्धि और गौरव की वृथा चाहत में घूमती वर्चस्व की कवायदें। 'सुलेमान' कहानी मानो आज के राजनैतिक परिदृश्य पर व्यंग्य है।

इधर दो दशकों से हिन्दी की साहित्यिक दुनिया में स्त्री-लेखन को स्त्री की भाँति दोयम दर्जे का माने जाने का संस्कार खासा प्रबल हुआ है। उसी वजह से मृदुला गर्ग से लेकर कई समकालीन कथाकार स्वयं को स्त्री-लेखन के दायरे से बाहर रखने का आग्रह करने लगी हैं। तर्क प्रायः वही है कि लेखन के दौरान रचनाकार मात्र लेखक होता है, जेंडर नहीं लेकिन तथ्य यह है कि लेखन की प्रक्रिया आकाशवाणी की तरह क्षणिक एवं अनायास नहीं होती। लेखन-रचना के रूप में लेखक के संवेदनात्मक वैचारिक सरोकारों की डिलीवरी है। डिलीवरी कन्सीव किए जाने की संश्लिष्ट एवं सुदीर्घ प्रक्रिया के बिना सम्भव नहीं। यह तय है कि विचार को कन्सीव करते समय लेखक की समाज में एक निश्चित

अवस्थिति होती है- एक इकाई के रूप में वह न केवल जेंडर है, बल्कि धर्म, जाति, क्षेत्र, शिक्षा, भाषा आदि विविध वर्गीकरणों के आपसी टकराव से अनुभव ग्रहण करता है; अपने 'परसेप्शंस' पर आघात होते देखता है; विचार की प्रक्रिया में स्वयं को पूर्वाग्रहों से लड़ते और ऊपर उठते देखता है तथा व्यक्तित्व-विकास के क्रमिक अंतरण को झेलते हुए स्वयं को एक नई शिखिसयत में 'री-इन्वेन्ट' करते पाता है। कन्सीव करने की प्रक्रिया के दौरान यदि विषय-विशेष पर शोधपरक मंथन-विश्लेषण करते हुए लेखक आत्म-विस्तार नहीं करता तो स्वयं को दोहराने के जोखिम से भी नहीं बच पाता। लिखना दरअसल अपने भीतर पकती नई फ़सल की गंध से महमहा जाना है; गंध जो लय, नर्तन और गति बनकर सृष्टि को अकवार लेना चाहती है। लेकर रचनाकार द्वारा अपने अंतर्मन में सम्पन्न की गई सजग विकास-यात्रा के सोपानों का पुनः प्रस्तुतिकरण है। स्त्रियों द्वारा (पुरुष लेखकों की भाँति) स्त्री-लेखन को दोयम दर्जे का मानना और स्वयं को तथाकथित मुख्यधारा में शामिल करके बड़प्पन-भाव से भर जाना दरअसल पितृसत्ता की कंडीशनिंग को स्वीकार करना है। जिस तरह आज पुरुष-लेखन से स्त्री और स्त्री-सरोकार गायब हो रहे हैं, वह चिन्तनीय है। स्त्री-समाज, स्त्री-अस्मिता और स्त्री के अंतर्मन में पलती स्वप्नशील सच्चाइयों की थाह फ़िलवत्त स्त्री-लेखन ही ले रहा है। यदि वह भी ऐसा न करे तो स्त्री-लेखन पुरुष-मानसिकता का प्रत्यक्षीकरण बनकर रह जाएगा।

अच्छा है कि ममता कालिया 'बड़ी रेंज' के प्रलोभन में अपनी ज़मीन नहीं छोड़तीं। कुछेक कृतियों जैसे 'दौड़' में वह सपाट लहजे में उपभोक्ता-संस्कृति के बड़बोलेपन को दर्शाती हैं; 'कल्चर वल्चर' में संस्थानगत भ्रष्टाचार पर चुटकियाँ लेती हैं तो 'एक पत्नी के नोट्स' में पति-पत्नी को शिकारी-शिकार की सुविधाजनक अपोज़िट बाइनरी में रिड्यूस कर उन स्थितियों का गम्भीर विश्लेषण करने से चूक जाती हैं जो सफल, सुशिक्षित, समृद्ध युवक को सामंत बनाने को उकसाती हैं; और स्त्री को नमक की डली की तरह अपने ही औसुओं के समुंदर में घुल-गल जाने का संस्कार देती हैं। इक्कीसवीं सदी का स्त्री साहित्य इतना अशक्त, आश्रित और बोदा होगा, यह बात गले नहीं उतरती; खासकर तब जब गीताश्री, किरण सिंह, योगिता यादव, विजयश्री, प्रज्ञा जैसी रचनाकार स्त्री की जिजीविषा, संघर्ष और स्वप्नाकुलता के नए प्रतिमान गढ़े रही हों। तनाव, सघनता और संश्लिष्टता ममता कालिया की रचनाओं से क्रमशः छीजने लगे हैं। शायद इसलिए कि इन दिनों विचारपरक गम्भीर लेखन को परे ठेल कर हल्का-फुल्का लेखन लोकप्रिय होने का ढोल पीटा जाने लगा है लेकिन साहित्य यदि सोशल मीडिया के तुरत-फुरत अधीर पाठक को अभीष्ट मानकर गुणवत्ता और स्तर से समझौता करने लगेगा, तो वह अंधकार में डूबने को अभिशप्त समय की मशाल कैसे बन पाएगा? रपटने को राहें हमेशा खुली रहती हैं। सीधी चढ़ाई चढ़ना ही जोखिम का काम है। वरिष्ठ पीढ़ी से अपेक्षा है कि अनुभव-जन्य विचारप्रखरता और संश्लिष्टता का लाभ उठाकर अपने ही गतिरोध में जकड़े हिन्दी कथा-साहित्य को राह दिखाएँ। वरिष्ठता को अपेक्षाओं के बड़े हुए बोझ को लाद कर ही संघर्ष को उन्नत करना पड़ता है, अन्यथा कालावधि के हिसाब से हर नई रचना लौट-फिर कर पुरानी परिधियों की परिक्रमा करने लगती है। □

ममता कालिया एक आधुनिक दिमाग की लेखिका

ममता कालिया हमेशा अपनी नई किताब के साथ भिन्न रचनात्मक भूमिका के साथ आती हैं। उनके उपन्यासों और कहानियों में नगरीय जीवन के यथार्थ चित्र हैं। आज़ादी के बाद शहरों के बदलते स्वरूप को ममताजी के लेखन में देखा जा सकता है। वह अपने स्मृति-संसार से साहित्य को हमेशा संस्कारित करती चलती हैं। अपनी प्रकृति के अनुरूप इस बातचीत में वे खुले मन से मनोज मोहन के साथ विचार रखती हैं



प्रश्न— मैंने संस्मरणों में पढ़ रखा है कि आप चंडीगढ़ गई थीं और उसी गोष्ठी से साहित्य में चर्चा में आई थीं।...

उत्तर— उस समय मैं मुख्य रूप से कविताएँ लिखती थी लेकिन कभी-कभी कोई मुझे कहता तो मैं कहानी लिख देती थी। जैसे 'लहर' नाम की एक पत्रिका थी, राजस्थान से निकलती थी। ममता कहानी लिखकर दो, प्रकाश जैन उसके सम्पादक थे, तो मैं लिख देती थी। एक-दो बार 'ज्ञानोदय' और 'सुप्रभात' जो कलकत्ते से निकलने वाली पत्रिकाएँ थीं, उनमें भी मेरी कहानी छपी लेकिन कहानी को लेकर मैं गम्भीर नहीं थी। मेरा मन लगता था कविता लिखने में। वो भी अकविता। उस ज़माने में अकविता का दौर था। 1965 के जनवरी में मुझे टेलीग्राम आया। उस ज़माने में टेलीग्राम चलता था और वह टेलीग्राम हजारी प्रसाद द्विवेदी का था जिन्होंने कहा कि आप आज की कहानी पर हमारे यहाँ आकर एक आलेख पढ़िए। पंजाब युनिवर्सिटी 'कहानी-सवेरा' नाम से 30 जनवरी, 1965 को एक गोष्ठी कर रही है और वह अखिल भारतीय गोष्ठी है। उसमें बड़े-बड़े विद्वान आएँगे। अध्यक्षता नामवर सिंह की है। उस गोष्ठी में मैंने आज की कहानी पर पर्चा पढ़ा था, जिसमें मैंने नई कहानी की आलोचना की थी। आज की कहानी का मतलब था नैचुरली-ज्ञानरंजन, काशीनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया और दूधनाथ सिंह जो कहानियाँ लिखते थे, उन लोगों की कहानियों को मैंने उस पर्चे में बेहतर बताया था। यह कहा था कि प्रामाणिक यथार्थ की कहानियाँ हैं। नामवरजी ने गोष्ठी के बाद कहा कि सबसे अच्छा आज का पर्चा ममता अग्रवाल का है तो हमें बहुत अच्छा लगा। हम अपनी अकड़ में भी रहते थे क्योंकि हम दिल्ली युनिवर्सिटी में लेक्चरर थे। हमारे पास जीवन में छोटी-छोटी गर्व करने वाली बातें थीं। उस समय वापसी की यात्रा में जब मैं आई बस में, बस अड्डे पर मैंने देखा कि ये पहले से ही बैठे हुए हैं। कालियाजी। मैं उनके बगल में बैठी, कोई जगह भी न थी बस में। मैंने देखा कि रवीन्द्र कालिया ने सबसे पहले मेरे ऊपर अटक किया। उन्होंने कहा कि आप सिर्फ



ममता कालिया के साथ साक्षात्कारकर्ता

भी क्योंकि प्रेम लम्बा चलता है। प्रेम लम्बा नहीं चला हमारा। 65 की जनवरी में हम मिले और दिसम्बर में हमारी शादी हो गई तो एक-दूसरे को पर्याप्त जानने का भी अवसर नहीं था क्योंकि तीन महीने के बाद रवि तो बम्बई (मुम्बई) चले गए। तो हमारी मुलाकातें ज़्यादा नहीं हुई रवि के साथ। जनवरी के अंत में हम मिले। 30 जनवरी को तो हमारा परिचय हुआ। एक अप्रैल को रवि ने ज्वाइन कर लिया 'धर्मयुग' में।

कविता-कविता लिखती हैं क्या? कहानी लिखने का कोई...नहीं है।... कहानी पढ़ती भी नहीं आप। जब उन्होंने यह कहा तो मुझे लगा कि चैलेंज कर रहे हैं मुझे। तो मैं अकड़ गई इस बात पर। मैंने कहा कि मैंने सारा विश्व-साहित्य पढ़ा हुआ है। अंग्रेज़ी वाले तो वैसे ही सारा विश्व-साहित्य पढ़ लेते हैं, अंग्रेज़ी के माध्यम से। तो फिर मैंने कहा कि हिन्दी भी मैं बहुत पढ़ी हूँ और मैंने गद्य बहुत पढ़ रखा है।

आपके अंदर एक खास तरह का सलीका है।

मुझे सलीका पसन्द है। रवि के अंदर मैंने यह पाया कि वो बहुत कायदे से रहते थे। उनका तरीका बात करने का बहुत अच्छा था। बातचीत में ऐसा था कि वो लम्पट की तरह, कभी बात नहीं करते थे। और सबसे बढ़कर उन्होंने दोस्ती में कहना शुरू कर दिया कि अपने पापा से कहो कि हम लोग शादी करना चाहते हैं। ये बात मुझे बहुत अच्छी लगी क्योंकि उस ज़माने में आप उस तरह की बात सोच नहीं सकते थे।

आपकी कहानियाँ जीवन के प्रेम-प्रसंगों से अलग हैं।

यह शायद इसलिए क्योंकि कहानी सीरयसली लिखना तब शुरू किया जब रवि मेरे जीवन में आ गए। हम लोगों की शादी हो गई। तो फ्रेमवर्क सारा-का-सारा फिट हो गया। नौक-झोंक था और रिलेशनशिप के एडजस्टमेंट

सड़सठ-अड़सठ से आप कहानी के प्रति ज़्यादा गम्भीर हुईं। तब जब मैं वहाँ, बम्बई पहुँची हूँ। मैं अपनी नौकरी छोड़-छाड़कर उनके पीछे चली गई। शादी हो गई थी, फिर वहीं बम्बई में रहने लगी। बम्बई में मुझे तुरंत नौकरी मिल गई। युनिवर्सिटी में मैं पढ़ाने लगी। तब

सम्पर्क : मो. 8851259407, ई-मेल : manojmohan2828@gmail.com

भारतीजी मुझसे कहानी लिखने को कहने लगे। बड़े प्रेम से कहते थे कि ममता हमारे यहाँ कहानी लिखो। एक लम्बी कहानी लिखकर दो। मैंने तब 'दो चेहरे' कहानी लिखी। कहानी क्या वह एक तरह की आत्मकथा है। एक लड़का आपको अचानक मिलता है और उससे प्रेम हो जाता है। फिर वह आपके जीवन में आ जाता है। अब आपके जीवन में टकराव है। पिता ज्यादा इम्पोर्टेंट है या वो प्रेमी! सारा का सारा द्वन्द्व के ऊपर है मेरे जीवन में द्वन्द्व बहुत वर्ष तक रहा। रवि हमारी शादी से पहले तक पापा के फ्रेंड थे और पापा रवि के आलोचक बन गए। शादी के बाद होता है, जो पिता बहुत पॉजिटिव रहा है अपनी बेटी का न! उसको उसमें खामियाँ दिखती हैं, जो पार्टनर है, जो उसने चूज़ किया है। है तो यह ठीक लड़का लेकिन पर्फेक्ट नहीं है। तो रवि के लिए पापा मुझे बार-बार कहते थे कि इसकी सिगरेट छुड़वाओ और यह कभी-कभी दारू पीता है, उस समय कभी-कभार पीते थे... इससे दारू छुड़वाओ। हमारे घर में बहुत बुरा माना जाता था। हमारे घर में तो पान खाना भी बुरा माना जाता था। हम लोग सात्विक तौर से भिंडी, तोरी खाने वाले लोग थे।

आपको किस कहानी से प्रसिद्धि मिली या आप कहानी की दुनिया में पॉपुलर हुईं?

पहली ही कहानी 'छुटकारा' छापी थी भारतीजी ने। उसी से, क्योंकि उसमें प्रेम प्रसंग है, पुराना प्रेम प्रसंग है और उसे पढ़कर लोगों को बहुत मज़ा आया था बल्कि लोगों ने कहना शुरू किया कि इनके तो क्लास में ही लड़का पढ़ता था। अब लोग जो मर्जी ढूँढ़ते रहते हैं। अपने साम्य ढूँढ़ते रहते हैं जीवन के लेकिन आपके पास क्या होता है? आपको छोटा-सा सूत्र कहीं से मिलता है। आप उस पर कहानी बनाते हैं। कहानी इस पर थी कि भई, अब जीवन में फ़ोकस बदल गया। कोई और आपके जीवन में आ गया। तो आपको पुराना प्रेमी जो है बिल्कुल बेकार लगता है। अप्रासंगिक लगता है। 'छुटकारा' कहानी इस पर है। है न! वह कहानी बहुत अच्छी नहीं थी। और 'दो ज़रूरी चेहरे' जो थी, वो भी एक बहुत चुललबाज़ी की कहानी है क्योंकि उससे यह पता चलता है कि एक तरफ़ पिता का मोह जो है लड़की के अंदर पड़ा हुआ है, वो उलझन में पड़ी हुई है और दूसरी तरफ़ नया-नया प्रेमी उसका पति बना, उसके मोह में वो है। और दोनों चेहरे उसको ज़रूरी लगते हैं। जिस दिन उसकी सर्जरी होती है किसी चीज़ के लिए। पेट में दर्द है उसके तो जब सर्जरी होती है तो उसे दोनों तरफ़ चेहरे झुके मिलते हैं। एक तरफ़ पिता का और एक तरफ़ प्रेमी का।

आपने स्त्री-विमर्श को लेकर कभी सीधे कहानियाँ नहीं लिखी हैं?

इतनी कट्टरता से इसको मैंने कभी नहीं लिया। स्त्री-विमर्श को एक फ़ॉर्मूला के तौर पर मैंने कभी नहीं लिया। और मैंने कभी यह भी नहीं माना कि स्त्री-विमर्श जो होता है पुरुष के विरुद्ध गढ़ा है। देखिए पुरुष विहीन दुनिया का हम क्या करेंगे दूसरे इसे मानते हैं कि हमें दुनिया चाहिए तो सारे सदस्यों के साथ चाहिए। पूरे समाज के साथ चाहिए। हम ऐसी दुनिया नहीं चाहते जैसी 'जख्मी औरत' फ़िल्म होती है। ये पुरुष, सबको बधिया करके डाल दोगे। न रहेगा पुरुष और न आपके ऊपर कोई ख़तरा रहेगा। पुरुष भी रहेगा और हम उसको सिखाएँगे कि वो हमारे साथ कैसे रहे। मैं नारी-विमर्श को कभी भी अतिवादी रूप में पसन्द नहीं करती। इसलिए मैंने उसे कहानियों में भी नहीं डाला। भले मैं लगातार कटाक्ष करती हूँ पुरुषों के फ़ितरत पर, पुरुषों के मालिकाना

एटीट्यूड पर, लेकिन मैं कभी भी उनको समाज से अलग नहीं करना चाहती। मुझे लगता है कि उनका होना बहुत ज़रूरी है जीवन में।

आपका दूसरा उपन्यास 'नरक-दर-नरक' है, उस बारे में बताएँ।

दूसरा उपन्यास मेरा 'नरक-दर-नरक' है। 1975 में आया वह। और वह भी प्रेम से शुरू होता है लेकिन उसमें भी जल्दी अलगाव शुरू हो जाता है।

उसमें तो इलाहाबाद आ गया था।

अच्छे से। बेघर में इलाहाबाद नहीं है। बम्बई और दिल्ली है।

आपके जीवन और लेखन में शहरों का बड़ा महत्त्व रहा है।

हाँ! मेरे राइटअप में शहरों की भूमिका है क्योंकि मैंने बहुत शहर देखे हैं अभी भी बहुत से शहरों पर लिखना रह गया है। जैसे इंदौर मुझे बहुत पसन्द है। चार साल वहाँ रही हूँ। बी.ए. मैंने इंदौर से किया।

अभी तक इंदौर अनुपस्थित है एक तरह से।

कितने शहरों, मैं कितनी बार में इंदौर आता है क्योंकि मैं वहाँ पढ़ी हूँ। सबसे नाज़ुक जिसे कहते हैं, फ़ार्मेटिव जो पीरियड होता है वो मेरा इंदौर में बीता है। अरे मेरी क्या उम्र थी— सोलह साल की थी, जब मैं इंदौर पहुँची और जब बीस साल की थी जब मैंने इंदौर छोड़ा। चार साल में इंटर किया और फिर बी.ए. किया। उस ज़माने में चार साल का होता था दो साल में इंटर होता था, दो साल में बी.ए. तो मैं चार साल वहाँ रही।

मध्य प्रदेश में मैं इंदौर को आधुनिक शहर मानता हूँ। आप अपनी राय दें।

इंदौर जागरूक शहर है और देखा जाए तो इंदौर में ही साहित्य कला और संस्कृति की चेतना मुझमें पैदा हुई क्योंकि वहाँ लाइव कंसर्ट होते थे। उस ज़माने में रिकॉर्डेड कुछ नहीं होता था। तो जितने लाइव कंसर्ट होते थे, उसमें जितने भी लोगों को मैंने सुना— चाहे बड़े गुलाम अली खाँ हों, चाहे रसूलन बाई हों, बेगम अख्तर हों, चाहे शोभारानी गुर्तू हों। इन सबको मैंने रेडियो के कंसर्ट में, मालवा हाउस के लॉन में सुना है इंदौर में। इसी तरह से इंदौर को मैंने देखा। वहाँ पर मेरे साथ एम.ए. में पढ़ते थे रमेश बक्षी। वे कहानियाँ लिखते थे बड़े चौकाऊ क्रिस्म की कहानियाँ। उनकी सारी कहानियाँ होती हैं जो झटका टाइप। जैसे ओ हेनरी की होती है। इसी तरह मेरे साथ चन्द्रकान्त देवताले कविता लिखते थे। ये अलग बात है कि उनकी कविता हमें समझ नहीं आती थी। वो मेरे दीदी के क्लासफ़ेलो थे यानी मुझसे दो साल सीनियर। मेरी दीदी जिस समय बी.ए. में थी, मैं इंटर में थी। मेरी दी इंटर करके वहाँ पहुँची हैं। मेरे दीदी के दोस्त थे चन्द्रकान्त देवताले और सरोज कुमार। ये लोग दीदी के दोस्त थे और क्लासफ़ेलो थे। तो रमेश बक्षी वहाँ पर थे। रमेश बक्षी ने उस समय इंदौर में रहते हुए जैनंद्र कुमार से लड़ाई ठान ली थी और जैनंद्र कुमार को उन्होंने कहा था कि ये नक़ली लेखन है जो ये करते हैं। लगातार उनके खिलाफ़ वो लिखते रहे हैं। लोग उन्हें उछालते थे क्योंकि उन्हें मज़ा आता था कि एक स्थापित लेखक को एक आदमी डिस्टर्ब कर रहा है।

आपके उपन्यास में शहर का क्रम 'बेघर' से देखें तो उसमें बम्बई है और दिल्ली है।

'नरक-दर-नरक' में इलाहाबाद आ जाता है। इसमें पहले बम्बई आता है फिर इलाहाबाद आता है। बम्बई में बहुत रहे हैं। 'दौड़' में तो इलाहाबाद आता है और दौड़ में बहुत सारे शहर आ जाते हैं क्योंकि वे

कॉरपोरेट जीवन के बच्चे हैं। उसमें ताइवान भी आ जाता है— विदेश। उसमें अहमदाबाद, राजकोट, बम्बई ये सारे शहर आ जाते हैं क्योंकि इतने शहर देख लिए और हर शहर का इंप्रेशन आपके ऊपर पड़ता है, जैसे राजकोट है। राजकोट में इतनी अच्छी सुरक्षा की व्यवस्था है, किसी को अपनी कार और स्कूटर लॉक करने की जरूरत नहीं है। कितना स्वच्छ शहर है। वहाँ आपको वहाँ कागज़ का टुकड़ा तक नहीं मिलेगा।

वह तो गुजरात और महाराष्ट्र में... भी सिविल लाइफ़ बेहतर है।

वो है, लेकिन राजकोट जैसी मैंने स्वच्छता और व्यवस्था कहीं नहीं देखी। आज तक राजकोट मेरे दिमाग़ के अंदर एक पिक्चर पोस्टकार्ड की तरह से है। बहुत सुन्दर शहर है जबकि राजकोट इतनी दूर है कि वहाँ जाना मुश्किल है। मेरे बेटे की पोस्टिंग वहाँ थी, इसलिए मैं वहाँ गई। दो बार मैं गई राजकोट।

दौड़ में कॉरपोरेट जीवन है, उस समय आपके आस-पास जो लिख रहे थे उनके लेखन में कॉरपोरेट संसार अनुपस्थित है।

किसी के पास ये अनुभव नहीं था। उन्होंने इसका इस्तेमाल नहीं किया क्योंकि ऐसे तो हर एक के घर से एम.बी.ए. करके बच्चे निकले, लेकिन मेरा अपने बेटे से बहुत सम्वाद था। बहुत ज्यादा डॉयलॉग था मेरा उसके साथ। वो आ के मुझे, जब वह एम.बी.ए. पढ़ रहा था, तब की भी बात बताया करता था मुझे हॉस्टल लाइफ़ की बहुत अच्छी जानकारी है। एक-एक बात वह बताया करता था मुझे। 'दौड़' में भी तो यहीं सब लिखा है, मैंने। एक सरदार लड़का था लम्बा और दुबला-पतला। जब शैपू करता था तो लड़के उसको बाँहों में लेकर छत के ऊपर डांस करना शुरू कर देते थे। गर्ल्स हॉस्टल बगल में है वहाँ आई.आई.एम. में। वहाँ की मैडम जो है, सुपरिटेण्डेंट तो वह रोज़ रोल कॉल लेती थीं लड़कियों का कि कौन लड़की गायब है। दूर से देखकर लगता था कि एक लड़की नाच रही है। तो सोचते थे कि कौन से स्टुडेंट के साथ छत पर नाच रही है।

मेरा बेटा टाटा में नौकरी करता था। मेरे बेटे ने बाद में टाटा छोड़ा तो उस वक़्त टाटा उसको नहीं छोड़ना चाहता था लेकिन उसको अच्छा मौक़ा मिल गया। एम.बी.ए. वालों की कोई नैतिकता नहीं होती है। इन्हें जहाँ बेटर चांस मिलता है वहाँ वो चले जाते हैं। किसी भी जगह नौकरी करते हुए। इसी को लेकर 'दौड़' में सारा द्वन्द्व है। जब हमारे घर आता था मेरा बेटा इलाहाबाद, रवि उसे बार-बार कहते थे क्या तुम्हारी एथिक्स है? तुमने इतने दिन तक उस जगह काम किया। तुम्हें उन्होंने काम सिखाया। अब तुम दूसरी कम्पनी में जा रहे हो। वो कहता पापा मेरे लिए छोटी पड़ रही है कम्पनी। अब मैं अपनी सेवाएँ उस कम्पनी को दूँगा क्योंकि वह ज्यादा पैसा दे रहा है। आजकल भी यही होता है बहुत जल्दी चेंज करते हैं नौकरी और इन्हें कोई तकलीफ़ नहीं होती है। और न इन्हें कोई लगाव होता है और जो चिट्ठी लिखी जाती है अलगाव की गुडबाँय चिट्ठी लिखी जाती है। ऐसी मक्खन मिश्रित चिट्ठी होती है लगता है उसे पढ़कर कि लव लेटर है।

कॉरपोरेट की दुनिया में जो कम्पनी बदलने का ट्रेंड है, वह ट्रेंड जीवन में भी है।

देखिए अगर रिलेशनशिप में, रिश्तों में ये बात उतर आए या कॉरपोरेट वाली बात। आप कभी कहीं जा रहे हैं, कब जा रहे हैं, क्योंकि

बच्चा कहता है कि मुझे एथिक्स नहीं चाहिए, मुझे प्रोफ़ेशनल एथिक्स चाहिए। इस बात से माता-पिता दोनों दुखी होते हैं। वो कहते हैं कैसी बात कर रहा है ये। इसको एथिक्स नहीं चाहिए, इसको प्रोफ़ेशनल एथिक्स चाहिए। वो पूरी तरह बाज़ार को बिक गया बच्चा है। जो एम.बी.ए. करते हैं बच्चे वो यह जानकर चलते हैं कि हमें जीवनभर मार्केटिंग ही करनी है। मार्केटिंग पॉलिसी होती है। सेल्स की एक पॉलिसी होती है। निकलेगा कैसे नहीं, बेचो, जिससे अधिक बिक सकता है वो करो। तो अपने जीवन में बाज़ार में जो दिख रहा है, वो ये है। हाँ, आप जो कह रहे हैं यह बात बहुत ख़तरनाक है, अगर यह रिश्तों में उतर आए तो! अभी तक तो रिश्तों में नहीं उतरी है, यह मैं कहूँगी।

एक परिचर्चा में यह बात निकलकर आई थी कि परिवार का दायरा माँ-बाप और बारहवीं तक के बच्चे तक होता है।

यह सच है, आज परिवार का दायरा बहुत छोटा होता जा रहा है। मतलब पति-पत्नी और उनका बच्चा। बस आजकल के बच्चे माता-पिता से उस रूप में नहीं जुड़े हुए हैं, जैसे हम थे। इसीलिए एक संकट भी पैदा हो गया है। आज बच्चा अगर स्कूल में डाँट खाता है तो आकर माँ की गोदी में नहीं छुपता। वह मन में यह सोचता है और प्लान बनाता है कि अब मैं इसका बदला कैसे लूँ या मैं इसको कैसे ठीक करूँ? अपनी समस्या को बच्चा शेयर नहीं करता। हमारा ग्यारह साल का पोता है। कभी नहीं बताता आकर कि क्या हुआ। उससे पूछो तो कहेगा सब ठीक है। जब पीटीएम की मीटिंग में जाते हैं तो पता चलता है माँ-बाप को कि वह कितना शैतान है, कितना केयरलेस है— टीचर बताता है। बच्चा कभी नहीं बताता।

हमारे साहित्य में यह स्थिति कन्वर्ट होकर कैसे आ रही है?

साहित्य में आ रही है। जब परिवार आपका ऐसा हो जाएगा, उसमें बच्चे की ग़लती नहीं है, थोड़ी माँ-बाप की भी ग़लती है। माँ भी नौकरी करती है और पिता भी नौकरी करता है। वे निकल जाते हैं, सुबह निकलते हैं, रात को आते हैं। बच्चा तो सारा दिन आया के पास रहता है या अकेला रहता है। उसकी मानसिकता और उसका मनोविज्ञान क्या बनेगा? यही बनेगा कि धीरे-धीरे एक द्वीप बनता जाएगा वह लड़का— नदी का द्वीप। वो किसी से शेयर ही नहीं करेगा अपनी बात।

आजकल बहुत सारे बच्चे अपने से बड़ी उम्र की लड़कियों से शादी करना चाहते हैं।

ये चीज़ें और होंगी। आप कहते हैं न, इसके लिए हमको तैयार रहना चाहिए क्योंकि होता क्या है, बच्चे बड़ी जल्दी मैच्योर हो रहे हैं। अगर लड़कियाँ उनके उम्र की उनके वेवलेंथ पर नहीं होंगी, उस मेंटल लेवल पर नहीं होंगी तो शरीर बहुत दिन टिकता नहीं है। उन्हें अपने से बड़ी उम्र की स्त्रियाँ पसन्द आएँगी क्योंकि उनके पास मैच्योरिटी होती है, समझ होती है। वो जानती हैं कि कैसे इस बच्चे को हैंडल करना है। यह बिल्कुल भी अस्वाभाविक नहीं है। एक पच्चीस साल का लड़का चालीस साल की औरत के प्रेम में पड़े क्योंकि वह कहीं ज्यादा अच्छे तरीके से उस लड़के को मैनेज कर सकती है। उस युवा के सपनों को समझ सकती है। वास्तव में यह डायलॉग की, बात की कमी है। इस तरह का डायलॉग होना नैचुरल किस्म का है। तो शायद यह समस्या न आए। हमारे और रवि के बीच में दो साल की छोट-बड़ाई थी। □

(शेष अगले अंक में)

कभी न भूलने वाली मुलाक़ात

कुसुमलता सिंह



कुछ दिन पहले 31 अगस्त, 2022 को मैंने ममता कालिया के व्हाट्सएप पर लिखा, “कल अगर आपके पास थोड़ा समय हो तो क्या किसी समय आपसे मुलाक़ात करने आ सकती हूँ? अपनी सुविधा से बताइएगा।” आधे घंटे में उत्तर आया, “जरूर आइए। 12 बजे तक घिरी हुई हूँ। उसके बाद आपकी हुई।” यह उत्तर पाकर मुझे लगा कि मैंने कल का समय क्यों माँगा! आज ही चली गई होती। जैसे-तैसे रात बीती और दूसरे दिन मैं अपनी एक मित्र के साथ उनके यहाँ पहुँच गई। घंटी बजाई तो उनके बड़े बेटे ने दरवाज़ा खोला। अंदर पहुँच कर अभी मैं खड़ी ही थी कि स्नेहिल मुस्कुराहट लिए ममता कालिया बैठक में दाखिल हुई। सादगी, सरलता का अद्भुत साम्य उनमें दिखाई दे रहा था। सादगी सच कहूँ तो सरलता का नाम नहीं है, यह जीवन की गहरी सच्चाई को हमारे सामने ऐसे ले आता है कि आप बिना किसी शैलीगत उलझन में फँसे उसके आकर्षण में बँध जाते हैं और यही मेरे साथ हुआ। मैं अपलक उन्हें देखती रही। इतनी सहज अपनी-सी हम सब में रची-बसी यही ममता कालिया हैं।

“मैं आपसे पहले भी एक कार्यक्रम में मिल चुकी हूँ। उसमें आपके साथ ‘किसाड़’ पत्रिका को हाथ में लेकर फ़ोटो भी खिँचवाई थी”, मैंने कहा।

“बैठो। अरे इस पत्रिका को मैं जानती हूँ। आपने इसमें मेरा साक्षात्कार भी प्रकाशित किया था पर फ़ोटो कहाँ खिँची थी, यह याद नहीं,” कहते हुए उन्होंने मुझे आराम से बैठने का इशारा किया।

ममताजी को देख मेरे मन में उनकी कहानियों के न जाने कितने किरदार आ-जा रहे थे। कई दशक पहले मुझे ममताजी की कहानियाँ अक्सर पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ने को मिल जाया करती थीं पर पहला

कहानी-संकलन जो मैंने डूबकर पढ़ा था वह था ‘ममता कालिया की कहानियाँ’ जिसकी भूमिका मैं रविन्द्र कालिया ने ममताजी का परिचय अपने प्रेमी से पति होने तक के दृष्टिकोण से लिखा था। यह संकलन वाणी प्रकाशन से आया था और इसमें कहानियों को पाँच खंड में बाँटा गया था। न जाने कितने दिनों तक मैंने उसे कई-कई बार पढ़ा। किताब एक पुस्तकालय से लाई थी और बार-बार उसे ईशू करा रही थी तो एक दिन ईशू करने वाले ने कहा कि आप इसे बाहर से खरीद क्यों नहीं लेतीं! बार-बार इसको ले जाने और लौटाने आना पड़ता है। मैं उसे कैसे बताती कि जब किताब मैं लौटाकर जाती हूँ तो बीच के समय में उन कहानियों के भाव को लम्बे समय तक अपने भीतर महसूस करती हूँ। यहाँ तक कि उनकी पात्र भी बनकर जीने लगती हूँ तो इस अविर्चनीय सुख को मैं कैसे

किसी से साझा करूँ। वैसे भी कहा जाता है कि कुछ कहानियाँ और उपन्यास ऐसे होते हैं कि उन्हें आप अपने आस-पास देख सकते हैं, महसूस कर सकते हैं। जैसे-जैसे आप उसके अंदर डूबते जाएँगे, आपको लगेगा कि इसके किसी-न-किसी पात्र के किरदार में मैं ही हूँ। ममता कालिया की रचनाओं में एक असाधारण आकर्षण और साहित्यिक विशिष्टता होती है। उनकी ज़्यादातर कहानियाँ और उपन्यास मैंने पढ़े हैं। कुछ कई बार और

कुछ पुस्तकालय के रीडिंग रूम मैं तुरत-फुरत के अंदाज़ में कहते हैं कि साहित्य एक आविष्कार है और किसी भी आविष्कार को समझने के लिए बार-बार उस पर गौर करना होता है जैसे किसी किताब का एक अच्छा पाठक हमेशा उस किताब को दोबारा पढ़ने वाला पाठक ही हो सकता है।

मैं अपने खयालों में ही थी कि ममताजी की आवाज़ आई, “चाय तो पियोगी?”



ममता कालिया के साथ लेखिका

“जी।”

और ममताजी ने स्वयं मेरे लिए चाय बनाई। चाय के साथ पूरी मेज़ पर स्वादिष्ट नाश्ते की प्लेटें सज गईं।

उन्होंने चाय बनाई और सजी हुई ट्रे में केतली और कप लाकर सामने रखा, कम-से-कम ऐसी स्वादिष्ट चाय मुझे याद नहीं आता कि पिछले कई दशकों में मैंने पी हो। ऐसी आत्मिक आवभगत मुझे इतनी रोमांचक लगी कि जिस काम के लिए मैं गई थी वह भी भूल गई। मुझे याद आया कि मैं उन्हें एक पुस्तक विमोचन में शरीक होने के लिए आमन्त्रित करने आई हूँ। मैंने अपनी बात कही। उन्होंने अपनी डायरी देखा और ‘हाँ’ कर दिया। मैं उनकी इस सरलता से इतनी अभिभूत थी कि वे जो कुछ मुझसे पूछ रही थीं, उसका उत्तर मैं क्या दे रही हूँ, इस पर मेरा ध्यान ही नहीं जा रहा था। बातों के दौरान मैंने बताया कि मेरे पति की मृत्यु के बाद अब मेरे लिए अकेले रहना चुनौती की तरह है। तब उन्होंने अपने अकेले रहने वाले न जाने कितने अनुभव साझा किए। बात निकली और लेखन पर आई तो उन्होंने बताया कि पहले वे कहानियाँ कम और हिन्दी-अंग्रेज़ी में कविताएँ ज्यादा लिखती थीं। दिल्ली विश्वविद्यालय में वे अंग्रेज़ी की लेक्चरर थीं। उन दिनों ‘बोल्ड’ कविताएँ लिखती थीं जिसने तमाम लेखकों का ध्यान आकर्षित किया था। हालाँकि हिन्दी भाषा उन्हें पसन्द थी पर अंग्रेज़ी पढ़ने-पढ़ाने से वे उसी में रचनाएँ लिखती थीं। अपने पति रविन्द्र कालिया के सम्पर्क में आकर उन्होंने हिन्दी का जो दामन पकड़ा तो उनकी धारा ही बदल गई और वे हिन्दी में लिखने लगीं जो आज तक चल रहा है। बातें हो रही थीं और मैं उनके कमरे में रखे तमाम स्मृति चिन्हों को देख रही थी। सहसा बीच में ही मैंने कहा कि आप इतनी सफल रचनाकार हैं। आपने इतना विपुल साहित्य और दर्जनों किताबें हिन्दी को दी हैं। आपकी सहजता और बिंदास हँसी देखकर लग ही नहीं रहा कि आप लिखने का समय कब निकाल लेती होंगी। वे खूब खिलखिलाकर हँसी और बोलीं, “सफलता की अनुभूति एक मानसिक अवस्था है। कहानियाँ तो चारों ओर फैली हैं और लिखने की अपनी एक रासायनिक प्रक्रिया होती है। हाँ, यह मैं ज़रूर गहरे संतोष के साथ कह सकती हूँ कि एक सृजनकर्मी लेखक को एकांत की आवश्यकता होती है। इसीलिए रवि के जाने के बाद भी मैं यहाँ अकेले ही रहती हूँ जबकि बेटे का प्लैट नज़दीक की दूसरी सोसायटी में है। फिर मेरे जागने-सोने का कोई समय नहीं है। जब जी में आया तो लिखने बैठ गई।”

उन्होंने मेरे घर-परिवार के बारे में पूछा तब उसी सन्दर्भ में बात इलाहाबाद की चली और मैंने बताया कि मेरी शुरुआती शिक्षा इलाहाबाद जो अब प्रयागराज कहा जाता है, वहाँ हुई है। इसे सुनकर फिर तो लगा कि जैसे उनके चेहरे पर पूरी केसरिया धूप का उजास फैल गया हो। और वे उस सपनीले शहर की यादों में खो गईं। कहने लगीं कि उस शहर की अपनी ही एक अदा है जो स्मृति बनकर यादों में समाई रहती है। वहाँ का समोसा, वहाँ का नमकीन, वहाँ का साहित्य-समाज सब जैसे उस पल जी उठा और मुझे लगा कि मुझे जल्दी-से-जल्दी उनकी नई पुस्तक “जीते जी इलाहाबाद” पढ़ लेनी होगी। वे इलाहाबाद के बारे में बता रही थीं, मैं सुन रही थी जैसे सामूहिक यात्रा का प्रवाह वर्णित हो रहा हो। इन्हीं बातों के बीच न जाने कैसे उनका एक उपन्यास ‘कल्चर

वल्चर’ मुझे याद आ गया। यह कोलकाता की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। जिसमें महत्तर उद्देश्यों को लेकर अस्तित्व में आई एक साहित्यिक संस्था किस तरह विडम्बनाओं, विरूपताओं, अंतर्विरोधों, कपट, कलह, चतुर चाटुकारिता व निजी महत्वाकांक्षाओं का तलघर बन जाती है। उसमें एक फ़कीरा का चरित्र है जिसे अपना कोलकाता शहर सबसे अच्छा लगता है। वह कितने शहरों की सैर कर आया है मगर हर जगह पहुँचकर उसे यही लगता है कि कलकत्ते का जवाब नहीं। अपने इस उपन्यास में फ़कीरा की यात्रा के प्रवाह को और प्रवाह के विस्तार और वैविध्य को ममताजी ने ऐसी दृश्यात्मकता दी है, जिसे पढ़कर अनेक यात्री अपने मन में ही एक अंतर्यात्रा करने लगते हैं जहाँ उनकी यादों के भीतर सिकुड़ कर छिपा बैठा ऐसा ही कोई पसन्दीदा शहर जब-तब झाँकने लगता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ममताजी के लेखकीय अनुभव में भावात्मक घटक का आधिक्य न केवल रसात्मक प्रसंगों की विपुल सृष्टि करता है जो साहित्य को चिरकालिकता की ओर उन्मुख करता है बल्कि पाठक को तल्लीन होकर अनुभव-संसार में डूबने-तिरने के लिए अवसर भी देता है और यह भावात्मकता विचार चिन्तन की शक्ति से भरा होता है।

इसके बाद मैं बातों-ही-बातों में उनसे इतना घुल-मिल गई कि अपने बचपन से लेकर आज तक की बातें कह डालीं और उन्होंने जिस धीरज से सब सुना वह मेरे लिए किसी अनुभव से कम नहीं था। तब मुझे लगा कि अपने इन्हीं गुणों से, जो इनके सम्पर्क में आता है, उसे अपना बना लेती हैं और यही गुण इनकी रचनाओं में भी समाहित है जो पढ़ने वाले को बाँध लेता है, जो मानवीय गहरे लगाव की रचना का एक निकष है। उस शाम मैंने ममताजी से ‘चिरंतन वर्तमान’ भारतीय साहित्य और साहित्यकारों की चर्चा सुनी जिससे हिन्दी साहित्यकारों का गहरा नाता हो सकता है। उनकी बातों में न जाने कितने पात्र अपने व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य, अपनी दुनिया की जटिलता लिए, अपनी समस्याओं के हल तलाश करते हुए, अपनी त्रासदी के निराकरण की चेष्टा करते हुए बिखरे पड़े थे जैसे वे बार-बार आग्रह कर रहे हों कि मेरी सुनो। मुझे भी अपनी लेखनी का हिस्सा बनाओ। मेरे पास आओ। मुझे अपने शब्दों की तरलता में बहने दो। मुझे मुक्त करो और भी बहुत कुछ जिसको वे अपनी पुस्तक ‘जीते जी इलाहाबाद’ में ले भी आई हैं। सचमुच ममता कालिया का लेखन स्पृहणीय है।

ममताजी के सान्निध्य से दूर जाने का मन नहीं हो रहा था। शाम गहराती जा रही थी। मैंने उनसे चलने की इजाज़त माँगी।

“आती रहा करना।”

“जी।”

मेरी बात सुनकर उनके चेहरे पर खुशी और हँसी एक साथ चमक गई। मैं सोचने लगी कि ममताजी मुझ जैसे बेनाम चीज़ों में नामों की तलाश कैसे कर लेती हैं फिर उसे अपना बनाना तो कोई उनसे सीखे।

“मेरा फ़ोन नम्बर है न तुम्हारे पास?” उनकी आवाज़ आई।

“जी”, कहते हुए मैं लिफ़्ट की ओर बढ़ गई और सोचने लगी कि अबकी बार पूरा एक दिन ममताजी के साथ बिताऊँगी और जी भरकर चाय पिऊँगी। □

इलाहाबाद में हम छोटे-छोटे कबीर थे

ललित कुमार सिंह



जीवन में स्मृतियाँ सितार के तार की तरह होती हैं। जब भी जीवन के आरोह-अवरोह का स्पर्श होता है वह झंकृत हो उठती हैं। फिर समूचा स्मृतियों का कोलाज स्मृतिमय हो जाता है। 'जीते जी इलाहाबाद' ऐसे ही स्मृतिमय होकर लिखी गई संस्मरणात्मक कृति है। यह इलाहाबाद और इलाहाबादी रंग में रंगे कवि, लेखक, पत्रकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व का जीवन्त दस्तावेज़ है। जिनके लिए ये शहर महज़ एक शहर न होकर जीवन का एक राग बन गया है। जिसे लोग कहीं भी गुनगुनाने का माद्दा रखते थे, और लोग पूछते थे 'का भईया इलाहाबाद से हो का'। ममता कालिया अपने समय के लेखकों में भैरव प्रसाद गुप्त, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, दुष्यन्त कुमार, कमलेश्वर के तिगड्डों से लेकर ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया, अमरकान्त, श्रीलाल शुक्ल आदि कई लेखकों से जुड़ी स्मृतियों को बड़ी साफ़गोई के साथ साझा करती हैं। आज के कीर्तिमान लेखक अपने मुफ़लिसी के दिनों में किस तरह संघर्ष को जीवटता के साथ जीते थे। वे कहती हैं, "और शहरों में होता होगा सम्पन्नता का स्वाभिमान। इलाहाबाद में तो विपन्नता का वैभव और गरीब का गौरव है। सर्वहारा वर्ग किस अकड़ से जीता है, इसकी खुली किताब है यह शहर।" (पृ.-8)

ममता कालिया अपने व्याख्यान में कहती हैं कि जब सब कुछ ग्लोबल हो रहा है तब ऐसे में आप लोकल होकर अपनी बात को केन्द्र में रख सकते हैं। ममताजी इस बात को ध्यान में रखकर तथा कथाकार अखिलेश के अनुरोध पर 'जीते जी इलाहाबाद' लिखती हैं। यह इलाहाबाद ऐसा है जो निरूपायता के चलते सन् 2003 में लेखिका द्वारा छोड़ दिया गया था पर यह इलाहाबाद का अपना राग ही है जो सुदूर बैठी लेखिका को गुनगुनाने के लिए विवश करता है। यह विवशता भी, ऐसी कि "घनानन्द प्यारे सुजान सुनौ, यहाँ एक ते दूसरों आँक नहीं। ममताजी की स्मृतियों में इलाहाबाद इस तरह रचा बसा है कि वह गाज़ियाबाद में रहते हुए भी अपने ड्राइवर को सिविल लाइंस चलने को कहती हैं, 370 रानी मंडी के घर में लेखकों का जमावड़ा, कॉफ़ी हाउस की बहसें तथा लोकनाथ के पकवानों की मिठास यह सब कुछ ममताजी के मन को आह्लादित कर देते हैं। वे कहती हैं कि "शहर पुड़िया में बाँधकर हम नहीं ला सकते थे साथ, किन्तु स्मृति बनकर वह हमारे स्नायु तन्त्र में, हूक बनकर हमारे हृदय तन्त्र में और दृश्य बनकर हमारी आँखों के छविगृह में चलता-फिरता नज़र आता है। इस लिहाज़ से जितने भी लोग वहाँ जिएँगे, सबके पास अपना-अपना इलाहाबाद होगा। विद्वान यहाँ इतिहास खँगालने आते हैं। विशेषज्ञ यहाँ भूगोल नापते हैं।

कलाकार यहाँ सड़कें नापते हैं। उन्हीं में कहीं हम भी हैं।" (पृ.-07)

'जीते जी इलाहाबाद' इसलिए महत्वपूर्ण रचना है कि लेखिका ने समकालीन सायास उपस्थिति और अनुपस्थिति के संघर्ष को दर्ज किया है। हर शहर अपने आगोश में दुःखम-सुखम स्मृतियाँ सँजोए रहता है। बशर्ते उसके लिए नज़र चाहिए जो किसी भी शहर को महत्वपूर्ण बना देती है। निर्मल वर्मा कहते हैं, "हर शहर का अपना एक स्वाभिमान होता है। फिर इलाहाबाद यहाँ की तो आबोहवा में ही अक़खड़पन, ज्ञान और सम्वाद से उपजा प्रतिरोध है जो परिधि पर खड़े व्यक्ति को भी सवाल करने की हिम्मत देता है।" "मूलतः शहर की आबोहवा में महक है, मस्ती है अलमस्ती है। हर मौसम की अपनी बहार दिख जाती है। यहीं के विद्यार्थी सर्वाधिक अब्बल आते हैं। यहीं के रचनाकार लम्बे समय तक याद किए जाते हैं। कला, साहित्य, संस्कृति के इस नगर में अगर गोष्ठियाँ धारावाहिक होती रहती हैं तो क्या ताज़्जुब। चमकदार पत्थर की तरह यहाँ के रचनाकार ना सिर्फ़ खुद रगड़ खाते हैं वरन् बाहर से आए विद्वानों को भी प्रज्ज्वलित रखते हैं। विचार के धरातल पर यहाँ अधिसंख्य समृद्ध हैं। जब में पैसे ना हो पर यहाँ का साहित्यकार हिंदुस्तानी अकादमी के सभागार में दम ठोकर सवाल उठाएगा।" (पृ.-32)

'जीते जी इलाहाबाद' दास्तानगोई की तरह है जिसमें दो किरदार हैं। एक लेखिका और दूसरा खुद इलाहाबाद। दोनों के सहभाव का किस्सा ऐसा कि श्रोता हँकारी भरते-भरते कह उठे- "फिर क्या हुआ? ऐसा क्यों है? ऐसा क्यों हुआ?" खूबी यह है कि यह आपको अपनी सहज भाषा और दास्तानगोई में बहा नहीं ले जाती। इसमें छोटे-छोटे बाँध बने हैं। जो विमर्श खड़ा करने की कोशिश नहीं करते लेकिन आपको सोचने के लिए मजबूर कर देते हैं। संस्मरण की शुरुआत लोकभारती के प्रकाशन में प्रमुख दिनेशजी के प्रसंग से होती है। लोकभारती प्रकाशन उस ज़माने में लेखकों के जमघट और वैचारिक बहसों के लिए जाना चाहता था। लोकभारती ऐसा अड्डा था जहाँ हर कोई, किसी-न-किसी को ढूँढ़ने आता।

"दूधनाथ यहाँ आए थे क्या?

घंटा भर पहले आए थे, मार्कण्डेयजी की तलाश में कहीं निकल गए। (पृ.-12)"

सम्वाद और मेलजोल की ऐसी संस्कृति कि जहाँ मिले चार यार वहीं वह गोष्ठी बन जाए। कहने और सुनने की ऐसी परम्परा तथा प्रकाशनों से ऐसी आत्मीयता थी। जो शायद इस रोज़गारपरक जीवन और सम्बन्धों की तुकबंदियों में खोती जा रही है लोकभारती का इतिहास

वास्तव में इलाहाबाद की साहित्यिक जलवायु का इतिहास है। कभी यहाँ सुमित्रानन्दन पन्त के दर्शन हो जाते तो कभी अमृतराय। महिलाएँ कम नज़र आतीं। पता नहीं वे किताबों की ज़रूरत को कैसे पूरी करती होंगी। महादेवी वर्मा भी गिनती में एक दो बार दिखी होंगी वहाँ। (पृ-12) ये स्पेस का आभाव कहाँ था? ख़ैर, लोकभारती प्रकाशन के अलावा और भी प्रकाशन थे। कई लेखकों ने भी प्रकाशन गृह खोले। रवीन्द्र कालिया और ममता कालिया का खुद का एक प्रकाशन गृह था। इलाहाबाद में रोज़गार के अवसर कम ही थे लेकिन बेरोज़गारी का आलम वहाँ यह भी था कि साहित्य ही रोज़गार है और साहित्य बेरोज़गारी का कारण था। वैसे तो हिन्दी का लेखक सर्वत्र सर्वहारा होता है, दिल्ली हो या लखनऊ पर इलाहाबाद का हिन्दी लेखक सर्वस्वहारा माना जाए तो ताज़्जुब नहीं होना चाहिए। (पृ-13) पर ऐसे खाक जीने का मज़ा जो इलाहाबादी अकड़ न हो। मुफ़लिसी में भी जज़्बा ऐसा की अच्छे-अच्छे हैरत में आ जाएँ। प्रकाशन गृहों से तथा प्रूफ़ रीडिंग से कई लोगों का काम चलता था। इन्हीं दिनों पुस्तक खरीद की राष्ट्रीय नीति में बदलाव आया। निजी प्रकाशकों के समस्त क्रयादेश रद्द हुए। जीरो रोड के गोदामों में टनों किताबें रद्दी के दाम पर बिकीं। छापाखानों के लिए छपाई की कीमत भी उगाहना भी दूबर हुआ। हमारी बाल पुस्तकें गोदाम में पड़ी धूल खाती रहीं। निजी प्रकाशन की पुस्तकें पाठ्यक्रम में लगनी बन्द हो गईं। कहने का मतलब यह है कि आप लाख परिश्रमी हों, प्रतिभाशाली हों, कल्पनाशील हो, ज़िंदगी बार-बार पीछे से धक्का मार आपको ऐसे गिराती है कि दम तो नहीं निकलता पर घुटने छिलते रहते हैं। (पृ-31) बाल साहित्य पढ़ने वालों की कमी थी कि या बाल साहित्य वास्तविक पाठक तक पहुँच नहीं पाता है। सरकारी महकमा कई कवायदें करने के बावजूद क्या बाल साहित्य की किताबें बच्चों की पहुँच तक पहुँचा पाया है? फिर क्या साहित्यकार बाल साहित्यकार को वही ससम्मान दे पाया है?

इलाहाबाद में साहित्य से इतर बहुत बड़ी संख्या में प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी करने वाले छात्रों की है। जो अपने सीमित संसाधनों के द्वारा प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी करते हैं। ममताजी की नज़र वहाँ भी जाती है। बिहार, बंगाल, मध्य प्रदेश से आए मेहनती लड़के मिल-जुलकर एक मकान किराए पर लेते हैं, यूनिवर्सिटी रोड से किताबें खरीदते हैं। वहीं ठेलों पर किलोग्राम के हिसाब से कॉपियाँ मिला करतीं। हर छात्र दो-तीन किलो कॉपी खरीदता और उसका अध्ययन आरम्भ हो जाता। सुबह का अख़बार ये चाय की दुकान पर पढ़ लेते और शाम की ख़बरें पान वाले के टीवी सेट पर सुन लेते। न्यूनतम सुविधाओं में रहकर ये छात्र आईएएस, पीसीएस, रेलवे भर्ती बोर्ड, स्टॉफ़ सलेक्शन कमीशन जैसे पेचीदा इम्तहानों से जूझते। बहुत से इस प्रतियोगी परीक्षा को जीत जाते तो काफी सारे छात्र वापस लौट जाते। (पृ-55) इलाहाबाद विश्वविद्यालय जिसको पूरब का ऑक्सफ़ोर्ड कहा जाता है। जिसका अपना एक स्वर्णिम इतिहास है। वह ज्ञान मीमांसा और प्रतिरोध की संस्कृति के लिए जाना जाता है। साथ ही इलाहाबाद विश्वविद्यालय छात्र राजनीति और विभागीय राजनीति के लिए भी जाना जाता है। विद्यार्थियों में वामपंथी विचारधारा सर्वाधिक स्वीकार्य रही। इस दीक्षा में विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों की शिक्षण-संस्कृति का भरपूर योगदान रहा। लेखिका की नज़र युवा पीढ़ी के लेखन में भी है। रुचि भल्ला और संदीप तिवारी की कविताओं ज़िक्र आता है। इनका अपना-अपना

इलाहाबाद है। रुचि भल्ला फलटन महाराष्ट्र में रहती हैं लेकिन उनको इलाहाबाद इस कदर याद आता है-

जब तक जीती हूँ / इलाहाबाद हुई जाती हूँ
जब नहीं रहूँगी / इलाहाबाद हो जाऊँगी मैं।'

अभी कुछ वर्ष पूर्व इलाहाबाद का नाम प्रयागराज किया गया। जिसने इलाहाबाद को जिया है प्रयागराज नाम अभी तक स्वीकार नहीं कर पाया है। ऐसा नहीं है कि प्रयागराज अभी नाम रखा गया है वह तो पहले से ही था। स्मृतियों को यह नाम अस्वीकार तब हुआ जब इलाहाबाद मिटाकर लिखा जाने लगा प्रयागराज। संदीप तिवारी की कविता है-

'जो इलाहाबाद छोड़ कर गया है / वह प्रयागराज नहीं लौटेगा
लौटेगा तो इलाहाबाद...।'

ममताजी में जहाँ नई पीढ़ी के प्रति ममत्व और स्वीकार्यता है। वहीं वह इस बात का भी ज़िक्र करती हैं कि जब पुरानी पीढ़ी के साहित्यकार नई पीढ़ी के साहित्यकारों को महत्व नहीं देते थे। वे लिखती हैं कि इलाहाबाद की पुरानी पीढ़ी के साहित्यकारों ने हम नए लेखकों को कभी घास नहीं डाली। भैरवजी तो हमें इतनी हिकारत से देखते थे कि एक दिन हम सबको 'हरामियों की पीढ़ी' तक कह डाला। भैरवजी सम्वाद के बजाय विवाद और विमर्श की बजाय अमर्ष से काम लेने में यकीन रखते। मार्कण्डेय और लक्ष्मीकान्त वर्मा भैरवजी से ज़्यादा लोकतान्त्रिक थे। (पृ-25)

'जीते जी इलाहाबाद' में ममताजी इतिहास को पुनः उद्घाटित नहीं करती हैं। वह घटित घटनाओं की टीस को व्यक्त करती हैं जिसकी चुभन आज भी उनकी स्मृतियों में है। वह अपने एक व्याख्यान में कहती हैं कि 'परेशानियाँ जब पुरानी हो जाती हैं तो वह किस्सा लगने लगती हैं। उनके दुख-दंश और ज़्यादतियाँ रूपक की तरह खुलती हैं।' घटनाएँ दो हैं जिनको लेखिका ने बिना किसी प्रतिक्रिया और जस्टिफ़िकेशन के, पूरी साफ़गोई के साथ लिखा है। जो पढ़ते वक्त सिरहन पैदा करती हैं। और सवाल करती हैं कि ऐसा क्यों है? 370 रानी मंडी मुस्लिम बहुल इलाक़ा है जहाँ ममताजी का परिवार रहता था। उनका मुस्लिम भाई-बहनों के साथ खान-पान था। कोई परहेज़ नहीं था। घटना यूँ घटी की एक दिन मार्कण्डेय उनके घर आए थे। संयोग से उसी दिन ताज़िया निकल रही थी। मार्कण्डेयजी यह सब देख बहुत बेचैन और घबराए हुए हैं। वे रवीन्द्रजी से किसी तरह बाहर निकालने के लिए कहते हैं। घटना तो सामान्य-सी थी लेकिन यहाँ अनुपस्थित में भी बहुत कुछ उपस्थित है। दूसरी घटना छह दिसंबर की है जब पूरे देश में साम्प्रदायिक माहौल बन गया था। देश में राजनैतिक सरगर्मियाँ बढ़ रही थीं। कॉलेज में शिक्षकों के बीच छात्राओं के झुंड में बहस का मुद्दा यही होता कि तुम इस तरफ़ हो या उस तरफ़। दक्षिणपंथी ताकतें सिर उठा रही थीं। हमें फिर भी विश्वास था कि कांग्रेस के राज में अमन-चैन कायम रहेगा। रवि रोज़ की तरह मेहदौरी कॉलोनी वाले घर से रानी मंडी आए हुए थे। यकायक उन्होंने टीवी पर समाचार देखा बाबरी मस्जिद ढहाई जा रही है। लाखों की तादाद में कारसेवक अयोध्या में जुटे हुए थे बिल्कुल युद्ध जैसा वातावरण पैदा हो गया था। मैं उस दिन घर में थी। रानी मंडी ऐसा अल्पसंख्यक मोहल्ला था जो अमन-चैन में तो घोंसले की तरह सुरक्षित था लेकिन हिंसा का एक भी वाक़या होने पर सुलग उठता।

पृष्ठ 25 पर जारी...

पबजी

संजय कुमार सिंह



बहुत देर तक प्रिंसिपल साहब मन-ही-मन कुढ़ते रहे। मायूसी की स्याह परत उनके चेहरे पर पसरती रही। यह किस जन्म की सजा मिल रही है उन्हें? अपने ही घर में घुट-घुट कर जी रहे हैं वे... लाज और अपमान की सौ मौत मरने से बढ़िया है, एक बार में मर जाए। यह कौन-सी फ़ज़ीहत है, जो वे रोज़-रोज़ भोग रहे...? उन्होंने हिम्मत कर कहा, “पबजी आप क्या कर रहे हैं?”

“कुछ नहीं।” पबजी ने बिगड़ कर कहा, “डिस्टर्ब मत कीजिए....”।

“पढ़ने का समय हो गया।”

“होने दीजिए।”

“नहीं पढ़ोगे?”

“नहीं।” सीधा-सा जवाब था।

“तब क्या करोगे?” एक दरकी हुई आवाज़।

“पबजी खेलूँगा।” पबजी ने क्रुद्ध होकर कहा।

“पबजी खेलने से पेट नहीं चलेगा।” मरी-मरी-सी जिज्ञासा।

“नहीं चले।” पत्थर पर जैसे किसी ने हठ का पत्थर रखा हो।

“यह कोई जवाब नहीं हुआ।”

“नहीं हो...।”

“देखो, कुछ तो सोचो।” उन्होंने रंज होकर कहा, “लोग क्या कहेंगे। इतने बड़े बाप का बेटा मैट्रिक भी पास नहीं कर सका.. मैं दुनिया को क्या मुँह दिखाऊँगा...।”

“मुँह पर मास्क लगा लीजिए...।”

“बदतमीज़ी कर रहे हो...?” वे बमके।

किचन से पत्नी सुनीता दौड़ कर आई, “छोड़िए आपको क्या मतलब है, नहीं पढ़ेगा, तो अपने भुगतेंगे.. जो करता है, करने दीजिए।”

“करने दें...” वे दौँत भींच कर बोले, “मार कर चमड़ी उधेड़ दूँगा, हरदम पबजी खेलना निकल जाएगा...।”

“खुद भी मार खाइएगा...” पत्नी ने कहा, “प्रिंसिपल होकर जब नाक कटेगी कि बेटा मारता है, तब समझिएगा...।”

“अभी क्या कान कट रहा है...?” प्रिंसिपल साहब का आक्रोश आकार ले रहा था, “मैं नालायक लोगों की लाइबिलिटीज़ उठाने वाला बाप नहीं हूँ... यह सब मुझसे बर्दाश्त नहीं होगा...”।

“तो सुसाइड कर लीजिए...”, अपने कमरे से पबजी ने कहा।

वे कुछ मन-ही-मन बड़बड़ाए और फिर रोज़ की भाँति लद्द से बिस्तर पर लेट गए। यह रोज़ का मामला था। शाम को पाँच बजे घर लौटते, तो राजू कम्प्यूटर पर पबजी खेल रहा होता। गुस्से में उन्होंने उसका नाम ही ‘पबजी’ रख दिया था, पर उसकी नालायकी अब उनके वजूद को हिला रही थी। सपने का ख़ूबसूरत लोक जल रहा था उनकी आँखों के सामनेअंतर्दाह पर अंतर्दाहउन्हें याद आया ... कितना साधनहीन था उनका जीवन... पिता छोटे-मोटे किसान थे। घर में हमेशा पैसे की क्लिल्लत रहती थी। वसंत और पतझड़ में कोई अंतर नहीं... तब तीन किलोमीटर पैदल स्कूल जाकर उन्होंने इस अभाग को बदला था। पिता के झुके कंधे और माँ के मरे आत्म-सम्मान के इस शिखरावरोहण में न जाने कितने पत्थर चुभ कर रह गए थे आत्मा में..... कॉलेज की छोटी-सी फ़्रीस माफ़ कराने के लिए एक दूर के रिश्तेदार के घर उनसे मिलने गए, तो रात पुआल पर कटी....अपने गुरुजनों के पैर चाँप कर वे यहाँ तक आए... कभी पैर में जूता नहीं, तो पतलून में फ़ीता नहीं... और आज सब कुछ है, तो राजू दिन-रात पबजी खेल रहा है...। उन्हें लगा इस पबजी ने उनके जीवन को ध्वस्त कर दिया है, एक बेटा है, वह भी नहीं बना, तो क्या मतलब है कि वे क्या हैं? फिर वे क्या बैठे रहेंगे? सब बेच-बाच कर कहीं फूँक-ताप नहीं लेगा...?

वे दुखी रहते। दुनिया-जहान की बातें परेशान करतीं। फ़लों बाबू के लड़के ने मेडिकल निकाला, चिल्ला बाबू की लड़की आई.आई.टी. में सिलेक्ट हुई, तो एक सब्जी वाली का बेटा यू.पी.एस.सी. में चुना गया... वे सोचते, एक प्रिंसिपल का लड़का क्या किया? पबजी फ़र्स्ट धीरे-धीरे वे कुंठित होते चले गए...कभी-कभी, तो लगता, यह टी.वी. कम्प्यूटर, मोबाइल सब उन्हीं की दुनिया उजाड़ने के लिए बने... सरकार भी ऐसी कि सब जानते हुए कि लाखों-करोड़ों बच्चे बर्बाद हो रहे, इस पर बैन नहीं लगा रही... यह दुनिया अब कुछ नहीं छल का बाज़ार है, पैसे के लिए वह सब ग़लत खेल होगा और हम विवश होकर झेलेंगे। कोई सरकार कुछ नहीं करेगी... एक तरफ़ कोरोना ने स्कूल-कॉलेज को बन्द कर रखा है, दूसरी तरफ़ पबजी का झुनझुना बज रह है हर घर में.... उनका मन होता, टीवी, मोबाइल सब तोड़ दें.... पर यह सम्भव नहीं था.. अगर किसी चीज़ का ऐड था, तो उसमें यही सब चीज़े थीं, फ़ोर जी, फ़ाइव जी, सिक्स जी....।

कितना अच्छा था गाँव का वह स्कूल और नागा गुरुजी की छड़ी ! अब नुनू से बड़ा झुनझुना हो गया है। बच्चे को मार नहीं सकते। छू नहीं सकते। स्टिकलेस एजुकेशन दीजिए... यह कीजिए, वह कीजिए... तब तो दिवाला निकल रहा हर तरफ़... कोई करे तो क्या ... यह चलन यही रीत...।

एक दिन अचानक इसी उधेड़बुन में वे शहर के नामी मनोचिकित्सक डॉक्टर राय से मिलने गए और उनसे राजू की कारगुजारियों का सारा हाल बताया और कहा कि बताएँ क्या किया जाए....? डॉक्टर ने साहब ने हँस कर जो कहा, उसका मतलब यही था कि हर घर का यही हाल है प्रिंसिपल साहब.... पेशेंटली डील कीजिए... बच्चे पर ज्यादा दबाव बनाना ठीक नहीं... मोटिवेट करते रहिए... एक फ्रेज के बाद सब ठीक हो जाएगा... हम पैरेंट्स की भी दिक्कत है कि हम अपनी महत्वाकांक्षा बच्चों पर लादना चाहते हैं... आज के बच्चे वो नहीं हैं, जो हम थे, वे रिएक्ट करते हैं.... फिर उनके सामने एक पूरी इंटरनेट की खुली दुनिया है... आज के युग में सबसे ज्यादा माता-पिता के मानसिक इलाज की ज़रूरत है सर.... वे खुद को थोप कर बच्चों से उनका बचपन छीन रहे... आप ही कहिए पेड़ से अगर पत्तियाँ, आसमान से उसका नीला रंग, नदी से पानी, पंछी से उड़ान और बच्चों से उनकी किलकारियाँ छीन ली जाएँ, तो यह दुनिया कितनी कुरूप हो जाएगी....? डॉक्टर के पास कोई जादू की झप्पी नहीं है, थोड़ा इंतज़ार कीजिए....।

लम्बी बहस के बाद वे लौट आए लेकिन मन की उद्विग्नता दूर नहीं हुई। उन्हें लगता था उनका लड़का गलत ट्रैक पर जा रहा...। एक रोज़ उन्हें चिन्तित देखकर पत्नी बोली, “शैल बाबू कह रहे थे कि वसंतपुर में एक ओझा-गुनिया है, जिसके फूँकने से ऐसे बच्चे ठीक हो जाते हैं...।”

“देखो तुमने इस लड़के को लाड़-दुलार में खराब किया है...“वे उखड़े, “अब मुझे इस पोंगा-पंथी के विचार से बेवकूफ़ मत बनाओ।”

“क्या कहा... मैंने खराब किया है?” पत्नी बिफरी।

“तब मैंने?” उनकी त्योंरी देखी।

“उल्टे चोर कोतवाल को डाँटे... और दीजिए टी.वी., मोबाइल खरीद कर...”, “उसने व्यंग्य किया।

नहीं देता, तो तुम कहती कोई घटना हो जाएगी... पैसा क्या ऊपर ले जाइएगा”... उन्होंने उसी तेवर में कहा, “बोलो कहती कि नहीं?”

“तब बोलते काहे हैं...?”

“बोलें नहीं ? एक बार भी पढ़ता नहीं है तुम्हारा पबजी...”

“पबजी नाम है उसका?”

“तब क्या नाम है?”

“राजू।”

“तुम कहो, राजू”, वे तल्लख होकर बोले, “मैं पबजी ही कहूँगा।”

“हंगामा होगा किसी दिन घर में...” पत्नी ने अल्टीमेटम दिया, तो वे गुमा गए।

प्रिंसिपल साहब जितना सोचते, उनका ही उतना मन वैक्यूम होता। मारपीट, दंगा-फ़साद के बाद उन्होंने खुद को समझाना शुरू किया कि सुनीता सही कह रही है, एक बेटा है, बिज़नेस करेगा। रहे जैसे रहना है... कहीं कुछ हो गया... तो उन्हीं को सब कलंक लगेगा...

पर धीरे-धीरे उन्हें लगने लगा कि उनमें पहले जैसा उत्साह नहीं रहा, वे असमय बूढ़े हो रहे हैं... जो मिलता खा लेते, जो दिखता पहन लेते... कॉलेज चले जाते। लौटते तो सिर्फ़ ड्राइवर से बात करते। राजू और पत्नी से उनकी दूरी बढ़ती जा रही थी.... बीच-बीच में गैस, बदहज़मी और सफ़्रोक्शन से परेशान होते, पर किसी से कुछ नहीं कहते। राजू ने एकाध बार माँ से डाक्टर दिखाने की बात कही, तो उन्होंने इनकार कर दिया।

उनका स्वभाव बदल रहा था। वे आत्मग्रस्त रहने लगे थे।

रिश्तेदार कभी-कभार आते, तो कहते, “मेरा मिशन फ़ेल हो गया। मैं अब बेकार नौकरी कर रहा हूँ। इच्छा होती है नौकरी छोड़ दूँ... नहीं... नहीं कहीं जाने का मन नहीं होता है अब....।”

“क्या हुआ है आपको? सब ठीक हो जाएगा.... अभी उम्र ही क्या हुई है, एक दिन देखिएगा....” पत्नी के मामाजी ने कहा, “आप जैसे विद्वान आदमी को इतनी जल्दी हार नहीं माननी चाहिए... बच्चों का जीवन दूब की तरह होता है, मौसम एक बारिश आए, तो तुरन्त हरा हो जाए....।”

“अब आप लोग बोलते रहें, मैं सुनता रहूँगा।”

लोग चुप हो जाते।

समय का चक्र घूमता रहा। पबजी उनकी चिन्ता के विरुद्ध मैट्रिक पास कर दिल्ली पढ़ने चला गया। पिछले सात-आठ वर्षों से वह वहीं था। उनका विश्वास उठ चुका था उसके ऊपर से.. इस दरम्यान कई बार वह पूर्णिया आया और गया। कई बार उनकी इच्छा हुई कि वह पूछें, “यह तुम्हारे चेहरे पर स्याही कैसी है? बाल कैसे आगे शेड हो गए हैं?... इतने दुबले कैसे हो गए?” पर वे चुप रहे... खिँचे-खिँचे से.... उन्हें लगा इस लड़के ने उन्हें इस अधिकार से पहले ही बरतारफ़ कर दिया है... पर आज उन्हें अपनी ग़लती का अहसास हो रहा है। वे पैसा भेजते रहे और सुनीताजी से कहते रहे पानी में धन गाड़ रहा हूँ। पागलपन की हद तक उन्होंने पत्नी को ज़लील किया। तुम पागल हो, बेवकूफ़ हो, वह लड़का वहाँ आवागर्दी कर रहा होगा... मैं किसी जन्म का कर्ज़ उतार रहा हूँ तुम लोगों का.... उसे कहो लौट आए.... पैसे रहेंगे, तो वह कोई दूकान भी खोल कर पेट भरेगा... वैसे उसे अमरीका भी भेज दो, तो वह कुछ नहीं करेगा... लेकिन आज उसी पबजी ने उनकी धारणाओं को उलट दिया। वह यू.पी.एस.सी. क्लियर कर गया। उनके पूर्वग्रह की हवा निकल गई। पत्नी की खुशी और उत्साह के बीच उन्हें भी गुमान हुआ... लोगों की निगाह में उनका मान बढ़ गया। पबजी से बड़ी टोपी पबजी के बाप की... उनमें मानो जीवन फिर से अँखुआने लगा था.....इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता था कि एक स्थानीय अख़बार को इंटरव्यू देते हुए उन्होंने कहा, “मैं तो उसे पबजी कहता था, पर उसने मेरे खयालों को बदल कर रख दिया। मेरा मैसेज ऐसे माता-पिता के लिए है, जो इस कशमकश में जी रहे हैं कि उनके बच्चे क्या करेंगे... उनसे पबजी के हवाले से कहना चाहता हूँ कि नाउम्मीदी में भी वे कोशिश का दामन नहीं छोड़ें... बच्चे ऐसे पौधे हैं, जिनमें कभी भी फूल निकल सकते हैं... मैं सिर्फ़ यही कह सकता हूँ कि बहुत समय लगा मुझे खुद की सोच से उबरने में यह सच है पबजी आज जो कुछ है, अपनी माँ की वजह से है। उसी ने उसे विश्वास के अकथ जल से सींचा! इस सफलता की असली हक़दार पबजी के साथ वही है। □

● सात कविताएँ : नूपुर अशोक



चाय-1

प्रेम जीवन में कभी घटा ही नहीं,
बस सुबह उठते ही
बनाती हूँ एक कप चाय अपने लिए
और एक कप तुम्हारे लिए भी,
इन दोनों का एक साथ बनना
हर सुबह घुल जाता है
जीवन में प्रेम की तरह
प्रेम घटना है या जीवन?

चाय-2

आओ बैठें साथ-साथ
और चाय पिएँ,
बस इतना ध्यान रखना
कप ऊपर तक मत भर देना,
कप में थोड़ी-सी चाय रहे
थोड़ी जगह खाली रहे
खाली जगह थोड़ी-सी मेरी
खाली जगह थोड़ी तुम्हारी
ताकि तुम तुम रह सको,
मैं मैं रह सकूँ,
थोड़ी-सी चाहत बाक़ी रहे
एक और कप चाय की
और तुम्हारे साथ की!

चाय-3

चाय पी जाती है
धीरे-धीरे
घूँट-घूँट,

जीवन की तरह—
पल-पल
हर दिन
भरपूर!
अंत में
थोड़ी रह जाती है
कप के तले में,
जीवन में भी
रह ही जाता है
कुछ,
भूल जाने लायक!

चाय-4

वैसे तो
मना कर रखा है
दिल की बात को
होटों पर आने को
फिर भी
रख देती हूँ एक प्लेट
कप के नीचे
किसी कम्पन से छलकी चाय को
छुपाने को!

चाय-5

कभी किसी
और कभी
किसी और के नाम पर
दूर होते गए हैं हम

छोटी-छोटी खुशियों से,
इस चाय की तरह
जिसमें रह गई हैं
चाय के नाम पर
अब बस चन्द पत्तियाँ,
चलो न,
वापस लौटें उसी भरपूर वक़्त में
और भर लें एक बार फिर
इस पानी-पानी जीवन में
अदरक जैसी तेज़ी
इलायची जैसी खुशबू
चीनी जैसी मिठास
और दूध जैसा प्यार!

चाय - 6

सोचो ज़रा,
नापतौल कर
सही फ़ॉर्मूले से
बनती है चाय
मशीन में,
पर हर बार
मशीन भूल जाती है
चाय में स्वाद डालना
या
चाय ही
नहीं भूल पाती
किसी की नज़रों के
अंदाज़ से गुज़रना!

चाय-7

सुनो,
कप हमेशा दोनों रखना
चाहे रह जाओ अकेले ही
होती रहेगी हर सुबह हर शाम
कुछ बात
कभी मन से
कभी बेमन भी,
आदतें छूटती नहीं! □

● चार कविताएँ : लिली मित्रा



मेरा ही जलाया अग्नि-कुंड

ये मेरा ही जलाया अग्नि-कुंड है
भस्म होने दो मुझे
आहिस्ता-आहिस्ता...
क्या कहूँ?
किससे कहूँ?
क्या कोई समझ पाएगा?

अहेतुक मेरी ज्वाला
की धधकती आग में
अपनी कुंठित सोच की रोटियाँ पकाएगा..
इसलिए
छोड़ दो मुझे
और...जलने दो!

और घृत डालो
आक्षेपों का,
लपट दूर तक उठनी चाहिए...
वह चटपटाती-सी एक
चिलकती ध्वनि,
मेरी लपटों से आनी चाहिए
हाँ, यह मेरा खुद का जलाया
अग्नि-कुंड है
धूँ...धूँ कर जलना चाहिए

देखो इसके आस-पास
यज्ञ वेदी की दीवार मत बनाना,
वेदों की ऋचाओं के पाठ कर
पवित्रता का पुष्प मत चढ़ाना,
दावानल-सा दहकने दो,
हाँ, यह मेरा जलाया
अग्नि-कुंड है
मुझे सब भस्म हो जाने तक
भड़कने दो...

इतना अवश्य करना,
मेरे गर्म भस्मावशेषों पर
कुछ छींटे अपने प्रीत जल के
छिड़क देना,
मेरे भस्म को अधिक देर तक
सुलगन मत देना...

एक चिटपिटाती छन्नाती आह
के बाद मैं चिरशान्ति में लीन
हो जाऊँगी,
खुद को जलाकर ही
अब मेरा आत्म मुस्कराएगा
शायद यही मेरा सर्वश्रेष्ठ
प्रायश्चित्त कहलाएगा

अब छोड़ दो मुझे,
जलने दो!

बगावत

अलग बहना चाहे
नदी की कोई एक लहर,
कोई बूँद छिटक कर सागर से
फिर से बन जाना चाहे बादल,
जिस डगर जाते हों
हवा के झोंके झूमते
कोई एक झोंका तोड़ कर खुद को
चुपचाप निकल जाए,
किसी खामोश से
जंगल के झुरमुटों की तरफ़ ...
कभी ऐसा होना सम्भव हो सके तो बताना
मुझे भी,
मैं भी एक टुकड़ा तोड़कर खुद से
उस नदी की लहर,
उस सागर की बूँद
और
उस हवा के बागी झोंके संग
भेज देना चाहती हूँ
बगावत की सुगबुगाहट को
कुचलने का अब जी नहीं करता।

बादल

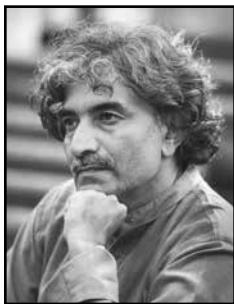
मैंने पकड़ा नहीं है
बादलों को
अपनी मुट्टियों में कभी,
मैं बस देखती हूँ आस भरी निगाहों से
नीले आकाश पर तैरते हुए
या, पहाड़ों की चोटियों से
लिपटकर गुजरते हुए,
सुना है वे छूकर गुजरते हैं
तो भीगो जाते हैं
अपनी आर्द्रता से
मैंने कभी तुमको भी नहीं
पकड़ा अपनी हथेलियों से,
बस देखती रहती हूँ
तैरते हुए बादलों की तरह
अपने प्रेमाकाश पर
चाहती हूँ बन जाना किसी पर्वत का शिखर
चाहती हूँ तुम लिपट कर भीगो दो मुझे भी।

धूप

आसमान कुछ नहीं कहता,
पेड़ कुछ नहीं कहते,
तार पर गदराया बैठा पंछी युगल भी
कुछ नहीं कहता
सब क्यों चुप हैं ?
यह विश्लेषण करने को मेरी वाचालता भी
चुप है
सुबह चुप रहती है तो धूप के चलने की चाप
सुनाई पड़ती है
मैं सुन पाती हूँ
उसका बालकनी पर उतरना,
पेड़ों की मुँडेर पर पायल छनकाना,
छिराए पंछियों का
हल्की गुनगुनाहट पा, जीमना
दूब के शीर्ष पर पड़े शिशिर बिन्दुओं का
सप्तरंगी हो उठना
सच कुनकुनाता सुख
सुबह की धूप सुनने का
चुप्पी तोड़ने का मन नहीं करता। □

सम्पर्क : मो. 9810700060, ई-मेल : lil2503@gmail.com

● चार कविताएँ : हेमंत देवलेकर



बारिश

बसंत की भाप है बादल

बारिश एक दृष्टि भ्रम है
सिर्फ पृथ्वी देख पाती
आसमान से वनस्पतियों का उतरना

बूंदों में कितने भिन्न और असंख्य बीज
मिट्टी की इच्छा और अनिच्छा से भरपूर

मिट्टी के हर एक कण पर
लहराता है हरा परचम

बारिश कितनी बड़ी तसल्ली है
कि मवेशी अब किसी दया के मोहताज नहीं

स्वाधीनता का उत्सव है बारिश।

प्रेम कविता

जब प्रेम का इजहार करेंगे हम
कोई भी महान उपलब्धि
हमारे काम नहीं आएगी

काम आएगा सिर्फ
स्त्री के क्रदमों में बैठ
काँपते हाथों से फूल देना

उसकी उत्सुकता फूल नहीं
हमारे अहं शून्य विनय में होगी
वह देखेगी कितने शालीन होते हैं
पुरुष के हाथ
और बच्चे की तरह कितने भोले



हमारी आँखों की पुतली में उभर आई
जीने की उत्कट इच्छा में झाँकते हुए
थरथराएगा उसके होंठों का लाल रंग

उसका फूल लेना
पूँछ की तरह चिपके हमारे इतिहास को
काट देता है

उस क्षण से हम होना शुरू होते हैं।

धूल

धीरे-धीरे साथ छोड़ने लगते हैं लोग
तब उन बेसहारा और यतीम होती चीजों को
धूल अपनी पनाह में लेती है
धूल से ज्यादा करुण और कोई नहीं
संसार का सबसे संजीदा अनाथालय
धूल चलाती है

काश हम कभी धूल बन पाते

यूँ तो मिट्टी के छिलके से ज्यादा हस्ती उसकी
क्या
पर उसके छूने से चीजें इतिहास होने लगती हैं

समय के साथ गाढ़ी होते जाना
धूल को प्रेम से ज्यादा महान बनाता है
ओह, हम हमेशा उसे झाड़ देते रहे
बिना उसका शुक्रिया अदा किए।

टापरे

ईंट-पत्थरों के वज्रों से सर ढँके
काँटों की टहनी, टायर, माथे पे यूँ रखे
जैसे कि टोपी पगड़ी पहने हैं टापरे

बरनियाँ अचार-मुरब्बे की हैं धरी
लाल मिर्च पसरी हैं नमी से भरी
धूप से इलाज यूँ करते हैं टापरे

टापरोँ पे चढ़के देता है बाँग मुर्गा
चोरी से जाए बिल्ली पैरों में पहन बुर्का
नीड़ पंछियों के बनते हैं टापरे

पत्तों के हैं गलीचे यहाँ पर बिछे हुए
फूलों भरी लताओं के तोरण सजे हुए
बागों के जैसे सुन्दर लगते हैं टापरे

आते हैं जब अचानक कुछ झुंड में बन्दर
कूद-फाँद करके घर उलौंघते बन्दर
पागल पखावजों से बजते हैं टापरे

टापरे पे चढ़कर गिलकी हुई जवाँ
चढ़ा करेला नीम, अँगूर आसमाँ
खेत जैसे बिल्कुल लगते हैं टापरे

कैसे चढ़ पाएँगे पतंग उड़ाने वाले
इन पर भागें कैसे झक्कड़ उठाने वाले
बच्चों की लानतें झेलते हैं टापरे

बेटी घर से हो विदा फिर सोचें छत की बात
लगे नौकरी बेटे को तो सोचें छत की बात
ख्वाब पक्की छत के देखते हैं टापरे। □

सम्पर्क : मो. 7987000769, ई-मेल : hemantdeolekar11@gmail.com



समकालीन हिन्दी बाल साहित्य की महत्वपूर्ण कृतियाँ

रोहिताश्व अस्थाना

श्रेष्ठ कि बाल साहित्य वही है जिसे पढ़कर बच्चे एवं उनके माता-पिता, अभिभावक आदि सभी आनन्दित हो सकें। इसी प्रकार श्रेष्ठ बाल साहित्यकार वह है जो बच्चों में बच्चा बनकर उसके दृष्टिकोण से सृजन कर सके। इस दृष्टि से बाल साहित्य लिखना सरल नहीं है। आजकल प्रकाशकगण भी बाल साहित्य प्रायः अपने स्तर से छापना पसन्द नहीं करते। ऐसे में बच्चों को सुधारने एवं देश का भावी नागरिक बनाने के लिए हमारे बाल साहित्यकार अपने स्तर से अपने बाल साहित्य की पुस्तकें स्वयं प्रकाशित करते रहते हैं। उन्हें ज्ञात है कि यदि बच्चों को देशभक्ति, चरित्र निर्माण एवं बाल मन के अनुरूप साहित्य नहीं मिला तो वे मोबाइल अथवा टी. वी. संस्कृति से जुड़कर बिगड़ जाएँगे। यदि हम उन्हें श्रेष्ठ बाल साहित्य पढ़ने को नहीं देंगे वे भद्रे फ़िल्मी गीतों को गुनगुनाते फिरेंगे।

ऐसे में श्रेष्ठ और उपयोगी बाल साहित्य की परख और पहचान करना आवश्यक होगा। आज जो भी बाल साहित्य के नाम पर छप रहा है, उनमें बच्चों के लिए क्या उपयोगी है और क्या नहीं इसकी जाँच पड़ताल करना आवश्यक हो गया है। अविभावकों को भी यह जानकारी होना ज़रूरी है कि कौन-सी पुस्तक उनके बच्चों के लिए उपयोगी है और कौन नहीं है। उसके लिए समकालीन साहित्य की गुणवत्ता को निरखते-परखते हुए उसका मूल्यांकन करना आवश्यक हो गया है।

अपनी गेयता, सरलता एवं सरसता के कारण बच्चे बाल कविताओं की ओर प्रायः पहले आकर्षित होते हैं। अतः समकालीन बाल काव्य की श्रेष्ठ महत्वपूर्ण कृतियों की चर्चा सबसे पहले करते हैं।

समकालीन बाल साहित्य के क्षेत्र में भाई अनन्त प्रसाद 'राम भरोसे' का महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने अपने स्तर से अपनी बाल कविताओं को 'नमन तुझको देश मेरा' शीर्षक से पुस्तक रूप में सचित्र प्रकाशित कराकर बाल भगवान की सेवा में समर्पित की है। प्रस्तुत कृति में कवि की एक से बढ़कर एक सरल, सरस, बाल मनोविज्ञान परक, रोचक, प्रेरक एवं सोद्देश्य बाल कविताएँ संग्रहीत हैं। यह कविताएँ देश प्रेम, प्रकृति, पर्यावरण, पशु-पक्षियों, ऋतुओं, पर्वों आदि पर आधारित हैं। सभी बाल कविताएँ पठनीय एवं उद्घरणयोग्य हैं। पुस्तक बाल पठकों के साथ-साथ उनके अविभावकों के लिए भी उपयोगी है। इसे विभिन्न अवसरों पर बच्चों को उपहार स्वरूप भी दिया जा सकता है।

हाल ही में चर्चित बाल साहित्यकार आर.एपी. सारस्वत की 24 बाल-कविताओं का संकलन 'सुन लो दादू' शीर्षक से अविचल प्रकाशन:

हल्द्वानी से बड़े आकार में सचित्र आया है। संकलन में बालोपयोगी विषयों के साथ-साथ कोरोना काल पर भी कुछ बाल कविताएँ प्रस्तुत की गई हैं। यथा- 'पता नहीं कब भागेगा/ ये बुद्धू कोरोना/ हाथ जोड़कर विनती करते/ सुन लो पालनहार/ इस संकट से लो उबार/ सुख पाए यह संसार/ बहुत बुरा लगता है प्रभुजी/ अपनों को खोना।' सभी बाल कविताएँ एक से बढ़कर एक सुन्दर, सरस, सरल, रोचक : प्रेरक एवं पठनीय हैं। निश्चय ही कृति समकालीन बाल साहित्य की एक कड़ी के रूप में चर्चित होगी।

सतीशचन्द्र शर्मा 'सुधांशु' एक होनहार बाल साहित्यकार हैं। उनकी बालकाव्य कृति 'पोते ने पूछा' आकर्षण मुखपृष्ठ के साथ के.बी. प्रकाशन, बिखौली, बदायूँ ने प्रकाशित की है। बाबा को प्रायः दादू भी कहा जाता है। दादू को पोते अर्थात् पौत्र से बहुत प्यार और लगाव होता है, परन्तु आज के एकल परिवारों में दादू और पोते का एक साथ रहना सम्भव नहीं है! वे दादूगण धन्य हैं, जिन्हें अपने पोते-पोतियों के साथ रहने, हँसने, खेलने, सम्वाद करने एवं अपने बीते हुए बचपन को पुनः दोहराने का सौभाग्य मिलता है। प्रायः कुशाग्र पौत्र जिज्ञासावश अपने दादू से प्रश्न कर बैठते हैं और दादू उन प्रश्नों के उत्तर देते रहते हैं। प्रस्तुत कृति की 12 पंक्तियों वाली 42 बाल कविताओं में पोता मुहावरों एवं लोकोक्तियों से सम्बन्धित प्रश्न करता है और दादू उसके भावार्थ एवं वाक्य प्रयोग की संक्षिप्त एवं सरल भाषा में व्याख्या करते हैं। यथा 'पोते ने पूछा, "दादूजी, इसका अर्थ बताना/ क्यों कहते हैं लोग/ भैंस के आगे बीन बजाना! दादू ने कहा, "नासमझों को/ कितना ही समझाएँ/ लाख कोशिशें करने पर भी/ तनिक समझ ना पाएँ। ऐसे लोगों के बारे में/ कहते हैंसी उड़ाकर/ समय व्यर्थ क्यों करें/ भैंस के आगे बीन बजाकर।"

इस प्रकार खेल-खेल में ही मुहावरों एवं लोकोक्तियों के भावार्थ और वाक्य प्रयोग का ज्ञान कराने में ये बाल कविताएँ समर्थ हैं। निष्कर्षतः सर्वथा नए विषय को लेकर रची गई ये बाल कविताएँ बच्चों, शिक्षकों एवं अविभावकों के बीच समान रूप से उपयोगी हैं! पुस्तक रोचक, प्रेरक, सोद्देश्य एवं पठनीय है।

इत्र की नगरी कन्नौज के सुकवि अनिल द्विवेदी 'तपन' के महकते और चहकते हुए 51 बाल गीतों का संग्रह 'छुआछुअउरी' भी इधर चर्चा में है जिसे उत्पला ग्राफ़िक्स कन्नौज ने प्रकाशित किया है! इन बालगीतों में देशभक्ति, पशु-पक्षियों, नाते-रिश्तों, त्यौहारों, साफ़-सफ़ाई विषयक सामाग्री दी गई है। छुआछुअउरी एक खेल है जिसे कवि ने चूहे-

सम्पर्क : मो. 7607983984, ई-मेल : asthanarohitashwa49@gmail.com

बिल्ली पर आधारित बनाकर बच्चों का मनोरंजन किया है। उदाहरणार्थ, 'चुहियाँ खाएँ कढ़ी फुलझरी/ चूहे खेले छुआछुअउरी/ तभी सड़क पर बिल्ली आई/ घुसे बिलों में पूँछ दबाए/ छुआछुअउरी। हमारे यहाँ बच्चे 'चूहा भाग बिल्ली आई' का खेल भी खेलते हैं ! 'छुआछुअउरी उसी का परिवर्तित रूप है ! आशा है बच्चे यह बालगीत मजे लेकर पढ़ेंगे और जीवन में आगे बढ़ेंगे।

लगभग इन्हीं विषयों पर आधारित मीरा सिंह 'मीरा' की 59 बाल कविताओं का संग्रह 'बचपन की गलियाँ', सिंह पब्लिकेशन्स, डुमराँव (बक्सर) ने प्रकाशित किया है, जिसे बच्चों के साथ-साथ बड़े भी पढ़कर अपने बचपन को पुनः दोहरा सकेंगे।

73 वर्षीय भाई श्याम पाण्डेय की तीन बाल काव्य-कृतियाँ 'सीटी बजाता हाथी आया', 'आओ बच्चों तुम्हें बताएँ, 'पंख मुझे तुम अपने दे दो' भी बाल कविताएँ बच्चे छन्दानुशासन के कारण गाते-गुनगुनाते हुए आनन्द ले सकेंगे।

जबलपुर के कवि अश्विनी कुमार पाठक के कोरोना कालीन 200 बाल दोहों की पुस्तक भी काफ़ी चर्चित हुई है, जो बच्चों और बड़ों दोनों के लिए ही समान रूप से उपयोगी, पठनीय एवं संग्रहणीय बन गई है।

इधर विज्ञान तथा पर्यावरण पर आधारित दो बाल कविता संग्रह लखनऊ के कवि गौरीशंकर वैश्य 'विनम्र' ने प्रकाशित कराएँ हैं जो बच्चों एवं बड़ों दोनों के लिए ही उपयोगी और पठनीय बन पड़े हैं !

हाल ही में समकालीन बाल साहित्यकारों के बाल गीतों एवं बाल कविताओं के कई सम्पादित संग्रह भी प्रकाशित और चर्चित हुए हैं। मनोजजी द्वारा सम्पादित 'संकलन' बचपन की फुलवारी' में विभिन्न रचनाकारों की बाल मनोविज्ञान पर आधारित एक बढ़कर एक 117 बाल कविताएँ बच्चों का मन मोह लेने में समर्थ हैं।

इधर निखिल पब्लिशर्स आगरा ने वरिष्ठ बाल साहित्यकार प्रत्यूष गुलेरी के सम्पादन में 'हिन्दी बाल कविताएँ' शीर्षक से एक संकलन पेपर बैकस संस्करण के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत संकलन में आयु एवं वरिष्ठता के क्रम में श्रीधर पाठक, हरीऔध, माखनलाल चतुर्वेदी, विद्याभूषण और श्रीनाथ सिंह से लेकर फ़हीम अहमद, मो. अरशद खान एवं सत्य नारायण 'सत्य' तक 118 बाल कवियों की दो-दो बाल कविताएँ संकलित और प्रकाशित की गई हैं। संकलन के अन्य बाल साहित्यकारों में स्वर्ण सहोदर, सुभद्रा कुमारी चौहान, सोहनलाल द्विवेदी, महादेवी वर्मा, द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी, निरंकारदेव सेवक, श्रीप्रसाद, राष्ट्रबन्धु, गणेश दत्त सारस्वत, शेरजंग गर्ग, तारा दत्त निर्विरोध, चक्रधर नलिन, शंकर सुलतानपुरी, कृष्णा शलभ आदि प्रमुख हैं, जिनकी बाल कविताएँ संकलन की धरोहर रचनाएँ हैं।

जीवित और सृजनरत बाल साहित्यकारों में जगदीश चन्द्रशर्मा, सरोजनी प्रीतम, देवेन्द्र कुमार, आशा शैली, राजा चौरसिया, शकुन्तला कालरा, परशुराम शुक्ल, भैरू लाल गर्ग, मधुरेश, रोहिताश्व अस्थाना, प्रकाश मनु, विनयकुमार मालवीय, पूरन सरमा, राम निवास मानव, सूर्यकुमार पाण्डेय, भगवती प्रसाद द्विवेदी, चक्रधर शुक्ल, उदम किरौला रमेशचन्द्र पन्त, सुरेन्द्र विक्रम, दर्शन सिंह आशट, अशोक अंजुम आदि की बाल कविताएँ विशेष प्रभावित करती हैं। सभी रचनाएँ बालक बालिकाओं की रुचियों, मनोवृत्तियों एवं अपेक्षाओं पर खरी उतरने वाली हैं।

कुल मिलाकर प्रस्तुत संकलन बाल काव्य का प्रामाणिक एवं ऐतिहासिक दस्तावेज़ है। प्रत्यूष गुलेरी के आमुख की पृष्ठभूमि में कृति का पारायण करना अपने आप में एक नया अहसास होगा। संकलित कवियों का परिचय एवं सन्दर्भ ग्रन्थ सूची कृति को और अधिक उपयोगी, पठनीय एवं संग्रहणीय बना देता है।

इधर वरिष्ठ बाल साहित्यकार दिविक रमेश के चयन एवं सम्पादन में 706 पृष्ठीय 'प्रतिनिधि बाल कविता संचयन' साहित्य अकादमी नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ है जिसमें 195 बाल साहित्यकारों की रोचक बाल कविताएँ संकलित हैं। वस्तुतः प्रस्तुत संकलन हिन्दी बाल-काव्य के इतिहास को भी रेखांकित करता है। संकलित कवियों में श्रीनाथ सिंह, कन्हैयालाल मत्त, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, जय प्रकाश भारती, बाल स्वरूप राही, बाल कृष्ण गर्ग, सरोजनी कुलश्रेष्ठ, योगेन्द्र कुमार लल्ला, विनोद चन्द्र पाण्डेय, उषा यादव, दिविक रमेश, रोहिताश्व अस्थाना, प्रत्यूष गुलेरी, सुरेन्द्र विक्रम, राकेश चक्र, अखिलेश श्रीवास्तव 'चमन', नागेश पाण्डेय संजय, घमंडी लाल अग्रवाल, राजेन्द्र रवि, गौरी शंकर वैश्य विनम्र, नीलम राकेश, शिवचरण चौहान, विनोद भृंग, रेनू चौहान, रामधारी सिंह 'दिनकर', सोहनलाल द्विवेदी, चन्द्रदत्त इंदु आदि प्रमुख हैं। प्रस्तुत संकलन में एक से बढ़कर एक रोचक, प्रेरक, खिलनन्देपन से युक्त, आधुनिकता का बोध कराती हुई बालोपयोगी कविताएँ संकलित हैं।

बाल साहित्य को सबसे पहले गम्भीरता से लेने एवं समालोचनात्मक दृष्टि रखने वाले कवि निरंकारदेव सेवक बच्चों में बच्चा बनकर कहते हैं, 'रोटी अगर पेड़ पर लगती/ तोड़-तोड़कर खाते/ तो पाया क्यों गेहूँ लाते/ रोज़ उन्हें पिसवाते ?'

इसी क्रम में दिविक रमेश की कुछ पंक्तियाँ उद्धरणीय हैं, 'पानी से भर जाती हैं तब/ नदियों का होता त्यौहार/ टंड में मीठी धूप खिले तो/ सूरज का होता त्यौहार/ जिस दिन पेड़ नहीं कटते हैं/ जंगल का होता त्यौहार।'

महीयसी महादेवी वर्मा को पशु-पक्षियों से विशेष प्रेम था। उन्हें चिन्ता है, 'घर में पेड़ कहाँ से लाएँ/ कैसे यह घोंसला बनाएँ/ कैसे फूटे अंडे जोड़ें/ किससे अब यह बात कहेगी/ अब यह चिड़िया कहाँ रहेगी ?' इसी प्रकार श्रीप्रसाद की 'कान बड़े होते', चन्द्रपाल सिंह यादव मयंक की 'छुट्टी का दिन', शेरजंग गर्ग की, 'मेरा बस्ता', प्रयाग शुक्ल की 'धम्मक धम्मक आता हाथी', सरोजनी कुलश्रेष्ठ की 'गधा', विनोद चन्द्र पाण्डेय की 'खूब रसीले जामुन', उषा यादव की 'पुस्तक मेला जाऊँगी।'

अखिलेश श्रीवास्तव 'चमन' की, 'रंगों की लड़ाई', रोहिताश्व अस्थाना की 'बाबाजी को हुआ जुकाम', सुरेन्द्र विक्रम की 'कौआ बड़ा सयाना', नागेश पाण्डेय 'संजय' की 'दिमाग में कविता', विद्या भूषण विभु की 'घूम-घूम रे चाक' तथा सुभद्रा कुमारी चौहान की 'मेरा बचपन' ग्रन्थ की अन्यः प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। दिविक रमेश ने अपने सम्पादकीय में बाल-काव्य पर शास्त्रीय विवेचना प्रस्तुत की है, जिसकी पृष्ठभूमि में ग्रन्थ को पढ़ना अपने-आप में एक सुखद अहसास होगा। कृष्ण शलभ, की कृति 'बचपन एक समन्दर' के बाद प्रस्तुत 'बाल कविता संचयन' का विशेष महत्व है।

इधर दिल्ली से ही शीला पाण्डेय (लखनऊ) के तीन बाल कहानी-संग्रह 'भारत की लोककथाएँ-2', 'भूली-बिसरी लोककथाएँ,

एवं 'साँची की गुड़िया' प्रकाशित हुए हैं। सभी संग्रह देश की गौरवमयी साहित्यिक सम्पदा की सुरक्षा में सहायक हैं। इसी प्रकार पवन कुमार वर्मा की 'श्रेष्ठ बाल कहानियाँ' जिसमें उनकी 40 चुनी हुई बाल कहानियों को सभी बच्चे चाव से पढ़ेंगे। लेखक कहानी-कला के मर्मज्ञ हैं। अतः सभी कहानियाँ रोचक, प्रेरक एवं तक बालोपयोगी हैं।

समीर गांगुली की 'खट्टी-मीठी' कहानियाँ, में उनकी 3 बाल कहानियाँ संग्रहीत हैं। सभी कहानियाँ कहानी कला के तत्त्वों पर खरी उतरने वाली हैं। बाल रुचियों, जिज्ञासाओं एवं बाल विषयों पर आधारित प्रस्तुत कहानियाँ बच्चे बड़े चाव से पढ़ेंगे और इनसे कुछ-न-कुछ सीखेंगे।

इसी क्रम में बच्चों की वरिष्ठ लेखिका बानो सरताज के तीन बाल कहानी-संग्रह 'खुल जा सिम-सिम', 'ज्ञानवद्धक रोचक कहानियाँ' और '2 बाल कहानियाँ' साहित्यागार प्रकाशन जयपुर हाल ही में आए हैं। प्रस्तुत संग्रहों की सभी बाल कहानियाँ एक-से-बढ़कर एक रोचक, प्रेरक एवं बालोपयोगी हैं। 'खुल जा सिम-सिम' में फलों, नमकीन, मिठाइयों एवं पहनावे के वस्त्रों पर प्रामाणिक और ऐतिहासिक जानकारी दी गई है। सभी बाल कृतियाँ बच्चों के साथ-साथ बड़ों के लिए भी आनन्ददायक हैं।

रंजना शर्मा पशु-पक्षियों पर आधारित 15 छोटी-छोटी रोचक प्रेरक, नैतिक शिक्षा से युक्त, बालोपयोगी आकर्षक एवं नयनाभिराम चित्रों से सजी बाल कहानियों का संग्रह 'नानी की कहानियाँ' शीर्षक से अपना प्रकाशन, भोपाल से प्रकाशित हुई हैं। अभिभावकों द्वारा विभिन्न अवसरों पर बच्चों को उपहारस्वरूप भी पुस्तक दी जाने योग्य है।

इधर मातृ-पितृ सेवा संस्थान, हरदोई से शीला पाण्डेय (हरदोई) की बच्चों एवं किशोरों के लिए जीवन मूल्यों पर आधारित सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, राष्ट्रीय, मर्यादापरक तथा अनुभव-जन्य व्यावहारिक प्रसंगों एवं दृष्टान्तों को लेकर लिखी 120 लघु कथाओं है की कृति 'प्रेरक प्रसंग' प्रकाशित एवं चर्चित हुई है। शीला पाण्डेय ने हिन्दी-काव्य में गंगा वर्णन' विषय पर वंश गोपाल के निर्देशन में पी-एच.डी. की है। बड़े आकार में छपी पुस्तक 'प्रेरक-प्रसंग' रोचक, प्रेरक, चरित्र-निर्माण में सहायक, बालोपयोगी पठनीय एवं संग्रहणीय है।

प्रस्तुत कृति बड़ों के लिए भी उपयोगी एवं मार्गदर्शक है। इधर अयन प्रकाशन, नई दिल्ली से बड़े आकार में सुकीर्ति भटनागर की रोचक प्रेरक और बच्चों में सकारात्मक सोच जागृत करने वाली बाल कहानियों का संग्रह 'मुन्ना' प्रकाशित हुआ है। इनके शीर्षक हैं, 'मुन्ना', 'आत्मशक्ति', 'अनोखेला', 'महक' और 'आज के बाद।' कहानियों के साथ चित्र भी दिए गए हैं, जिससे बच्चों के लिए यह एक उपयोगी एवं

पठनीय कृति बन गई है। युवा बाल साहित्यकार नागेश पाण्डेय 'संजय' का रोचक, प्रेरक एवं पठनीय बाल उपन्यास 'टेढ़ा पुल' विभोर प्रकाशन इलाहाबाद से प्रकाशित एवं चर्चित हुआ है, जिसे बच्चों एवं किशोरों के साथ-साथ बड़े भी पढ़कर आनन्दित हो सकते हैं।

अभी हाल ही में रमाशंकर का बाल उपन्यास 'मिशन पानी' आकाश पब्लिकेशंस, दिल्ली से आया है, जिसमें जल के संरक्षण पर है बल दिया गया है। प्रस्तुत कृति रोचक, प्रेरक तथा बच्चों, किशोरों एवं बड़ों के लिए समान रूप से उपयोगी और पठनीय है। इसी प्रकार बाल साहित्य की लेखिका सुधा गुप्ता अमृता का बालिका-केन्द्रित बाल उपन्यास 'आई तो आई कहाँ से' नमन प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। उपन्यास की मुख्य पात्र कक्षा 3-4 की छात्रा आरुषि है जो मन्दिर के पास पड़े कूड़े-कचरे से एक नवजात कन्या दुर्गा को उठा लेती है। वह सभी से पूछती है कि यहाँ जिन्दा गुड़िया दुर्गा कचरे में आई तो आई कहाँ से? परन्तु उसका प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है। कुल मिलाकर बेटी बचाओ : बेटी पढ़ाओ की पृष्ठभूमि पर आधारित यह बाल मनोविज्ञानपरक उपन्यास अत्यन्त ही रोचक, जिज्ञासा, प्रेरक पठनीय एवं संग्रहणीय बन पड़ा है। प्रस्तुत बाल औपन्यासिक शक्ति, बच्चों, किशोरों एवं बड़ों के लिए समान रूप से उपयोगी है।

इसी क्रम में लेखिका की यात्रा-वृत्तान्त पर आधारित कृति- 'चलें भ्रमण की ओर', बच्चों एवं बड़ों को घर बैठे घुमक्कड़ी का आनन्द 'प्रदान करती है। पुस्तक नमन प्रकाशन, नई दिल्ली से ही सचित्र प्रकाशित हुई है। प्रस्तुत कृति में सुधा गुप्ता अमृता ने बच्चों एवं विद्यार्थियों के साथ की गई अपनी दस शैक्षिक यात्राओं को जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया है। 'उद्गम से समर्पण तक', 'जंगल-जंगल बात चली है', 'बाघ-कौआ की राजस्थान यात्रा', 'प्रकृति में रचा-बसा अल्मोड़ा', 'संगम स्नान तथा प्रयागराज' पुस्तक के प्रमुख यात्रा-वृत्तान्त हैं। चूँकि लेखिका स्वयं भी शिक्षिका रही हैं, अतः बच्चों के साथ की गई उनकी यात्राएँ अत्यन्त ही सजीव बन गई हैं। बाल-साहित्य के अमर यायावर राष्ट्रबन्धु को समर्पित प्रस्तुत बाल-यात्रा-वृत्तान्त सम्बन्धी कृति अपने उद्देश्य में सफल सिद्ध हुई है। समकालीन हिन्दी बाल-साहित्य के क्षेत्र में प्रस्तुत कृति निश्चय ही उल्लेखनीय बन गई है जिसे बच्चे ही नहीं, बड़े भी रुचिपूर्वक पढ़ना चाहेंगे।

बानो सरताज के 'दस बाल एकांकी' पुस्तक के रूप में इसी शीर्षक से को ऑपरेशन पब्लिकेशन्स, जयपुर से प्रकाशित हुए हैं, जो बच्चों एवं कालाकारों को रंगमंच से जोड़ने में सफल हो सकते हैं। संग्रह में 'राज की बात' 'हिन्दुस्तान की बेटी', 'कौए का रंग काला क्यों', 'मेहनत की कमाई', 'भाई दूज की भेंट' आदि सभी बाल एकांकी बच्चों, किशोरों एवं बड़ों को श्रव्य एवं दृश्य दोनों माध्यमों से प्रभावित

प्रकाशन विभाग की बालोपयोगी पुस्तकें



करने वाले हैं। के. के. पब्लिकेशन, नई दिल्ली से सुप्रसिद्ध लेखिका बानो सरताज की ही बच्चों के लिए सचित्र, ज्ञान परक, लेखों की तीन पुस्तकें लाई हैं, जो बच्चों, किशोरों एवं बड़ों के लिए समान रूप से उपयोगी, पठनीय एवं संग्रहणीय बन पड़ी हैं! ये पुस्तकें हैं 'छुक-छुक रेलगाड़ी' - 'रंग निराले सर्कस के' तथा 'कॉमिक कैरेक्टर 14 और उनके सृजनकर्ता।' इन पुस्तकों में क्रमशः आइस्क्रीम, महपुतली, झंडा ऊँचा रहे हमारा, दियासलाई, गुड़िया, चाकलेट, घड़ी, पटाखे तथा कॉमिक्स के पात्रों तथा उनके सृजनकर्ताओं की प्रामाणिक जानकारी दी गई है, जो पाठकों को निश्चय ही प्रभावित करने वाली है! इन्हीं विषयों पर उपलब्ध बाल-कविताएँ भी लेखिका ने संकलित-उद्धृत करके सोने में सुगन्ध

लाने का सार्थक प्रयास किया है। ये तीनों पुस्तकें आलेखों के माध्यम से मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञान भी उपलब्ध कराने वाली अपने ढंग की सर्वथा नई एवं अद्वितीय हैं।

इस प्रकार समकालीन बाल-साहित्य का अध्ययन एवं मूल्यांकन करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बाल साहित्य की विभिन्न विधाओं यथा बाल-काव्य, बाल-कहानी, बाल-उपन्यास, बाल-एकांकी, प्रेरक प्रसंग, यात्रा वृत्तान्त एवं सूचनापरक बाल साहित्य पर बहुत सी महत्वपूर्ण एवं पठनीय कृतियाँ उपलब्ध हैं। बच्चों को यदि देश का सच्चा और अच्छा नागरिक बनाना है तो उन्हें पढ़ने के लिए श्रेष्ठ और उपयोगी बाल साहित्य देना ही होगा। □

इलाहाबाद में हम छोटे-छोटे....

पृष्ठ 16 से आगे...

जातिगत श्रेष्ठता और अलगाव का विद्वेष भी यहाँ दृष्टिगत होता है। उनके प्रकाशन गृह में चार शेड्यूल कास्ट के लोग काम करते थे उनमें एक का नाम पंडित था जो केवल इस नाम की वजह से उन तीनों से कभी घुल मिल नहीं सका। ममताजी स्त्री चेतना और पक्षधरता के प्रति सदैव सतर्क और सजग रही हैं। उनके एक मित्र थे प्रसूनजी जिनका घर आना-जाना होता था। वह दिन एक दिन रवीन्द्रजी से अपने मन की बात बताते हैं कि उनकी पत्नी निर्गन्ध हो गई हैं। यहाँ पर पुरुषवादी मानसिकता और स्त्री पक्षधरता का संघर्ष देख सकते हैं। प्रसूनजी को अगर गन्ध की इतनी ललक है तो मत्स्यगन्धा से क्यों नहीं ब्याह कर लिया। खूब गन्धमादन मिलता।

तुम बात का मर्म नहीं पकड़ना चाहती। निर्गन्ध से उनका तात्पर्य मायाजी के निरपेक्ष होने से भी है। वे निष्काम हो गई हैं।

ममताजी इस ओर भी संकेत करती हैं कि एक स्त्री प्रेम, परिवार और समाज के बीच संतुलन साध कर किस तरह अपनी रचनाधर्मिता को बचाती है। ममताजी सह-रचनाधर्मी के ईर्ष्या-द्वेष की भावना को भी शिनाख्त करती हैं। यह किसी भी व्यक्ति और किसी भी सहधर्मी में प्रति हो सकती है। यह प्रसंग कृष्णा सोबती से जुड़ा है। रवि ने कहा, ममता ने बड़ी टेंडर (कोमल) एज में 'बेघर' लिखा और उसको बहुत पसन्द किया गया। अभी तक बेघर पर चिट्ठियाँ आती रहती हैं। कृष्णाजी की आँखों में मैंने लेखक-सुलभ-ईर्ष्या की चिनगारी देखी। (पृ-187) यह भी ध्यान देने की बात है कि जब पति-पत्नी एक ही व्यवसाय में हों तो ईर्ष्या या फिर अहम आड़े आ जाता है। विनोद कुमार शुक्ल की पंक्तियाँ हैं-

'जाते-जाते कुछ भी नहीं बचेगा जब
तब सब कुछ पीछे बचा रहेगा
और कुछ भी नहीं में
सब कुछ होना बचा रहेगा।'

यहाँ प्रेम ही है जो सब कुछ जोड़े हुए है। कई बार हम प्रेम को बहुत महिमा मंडित कर देते हैं जिससे वह अलौकिक लगने लगता है जबकि प्रेम छोटी-छोटी चीजों से होता है। ममता कालिया और रवीन्द्र कालिया का प्रेम ऐसे दौर में हुआ है। जब सम्बन्धों में अलगाव और परिवारों में विघटन हो रहा था। ममताजी और रवीन्द्रजी लेखन में अलग-अलग गोलाद्ध थे। रवीन्द्र कालिया के लेखन में निम्न वर्ग तथा

ममता कालिया के लेखन में मध्य वर्ग केंद्र में था। ममताजी की नज़र अपने वर्तमान पर भी है। किस तरह पूरे देश को एक मिशन की तरह प्रायोजित किया जा रहा है। जिसका दुख दंश हर कोई किसी-न-किसी रूप में झेल रहा है।

'जीते जी इलाहाबाद' अपने आगोश में बहुत कुछ समाहित किए हुए है। एक शहर किस तरह अपनी हथेलियों से दुलारता है, किस तरह उँगली पकड़ कर चलाता है। जिसके स्पर्श की स्मृतियाँ जीवनपर्यंत रहती हैं। जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविता है-

'स्मृतियाँ अक्सर तब आती हैं / जब सूख रहा होता है
अंतर का कोई कोना / सूखे के उस मौसम में
वे आती हैं बरखा की तरह / और चली जाती हैं
मन-उपवन को सींच कर।'

उनका मानना है कि जैसे सैकड़ों फ्रीट गहरे खोद कर धरती से पानी ढूँढा जाता है वैसे ही लेखक को अपने कथ्य और यथार्थ के लिए गहरे उतरना होगा। प्रायः समकालीन होने की चेष्टा में हम उपस्थित के बीच अनुपस्थिति मगर अस्तित्वमय की अनदेखी कर जाते हैं। (पृ-182) यहाँ हम देख सकते हैं कि ममताजी की रचना-प्रक्रिया किस तरह निर्मित हो रही थी। वह कहती हैं कि 'हम अपने संघर्ष के दिनों में इलाहाबाद के छोटे-छोटे कबीर थे। वो तेजोमय तो नहीं मिला लेकिन हम अपने को उसी परम्परा का निर्वाहक मानते हैं।' उनके पास सारी चुनौतियों के बाद भी अपना एक एकांत कोना था जो उनके रचना संसार में दिखता है। ममताजी ने अपनी सासू माँ चाईजी और कृष्णा सोबती जी के माध्यम से दो पीढ़ियों के सम्वाद को बहुत रोचक ढंग से दिखाया है। ममता ये कैसी जनानी है, रातभर नई सोन्दी। मई चार बजे बाथरूम जाने नूँ उठती तो ये जगी हुई-सी (थी)। पंज बजे तो मैंने उठना ही होया न। जे तब भी जगी हुई। मैं नहा-धो के पिंडा साफ़ कर लिता पर ये सुत्ती पेई है। एदी गृहस्थ किदा चलदी? मैं हँस दी, चाईजी तुहाड्डी तरह ये भी आजाद हौं।' (पृष्ठ-187) पूरे संस्मरण में सम्वादधर्मिता है। अंत में यही की 'जीते जी इलाहाबाद' महज संस्मरण न होकर ऐतिहासिक दस्तावेज है। जिस तरह काशीनाथ सिंह का 'काशी का अस्सी' पढ़े बिना बनारस को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता उसी तरह 'जीते जी इलाहाबाद' पढ़े बिना इलाहाबाद को नहीं समझा जा सकता है। □

हिन्दी बाल साहित्य के यक्ष प्रश्न

समीर गांगुली



क्या क्या आज भी बच्चे रात को सोते समय अपने माता-पिता से कहानी सुनने की फ़रमाइश करते हैं?

क्या आज की माताएँ अपने नन्हे-मुन्नों को लोरी सुनाकर सुलाने की कोशिश करती हैं?

मेरा ख़याल है उत्तर खोजने के लिए हमें कोई जद्दोज़हद नहीं करनी होगी।

यह कटु सत्य है कि हिन्दी भाषी बच्चों की, हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाली बाल कहानियों (इसमें कविताएँ तथा दूसरी सामग्रियाँ भी शामिल हैं) में कोई दिलचस्पी नहीं है। उनके परिवेश में विकास या बदलाव के साथ हिन्दी बाल साहित्य में किसी विकास या बदलाव का कोई तालमेल दिखाई नहीं देता है। नाममात्र की बची हिन्दी बाल साहित्य की पत्रिकाओं में से किसी को उठा लीजिए। हर कहीं सम्पादक का दायित्व सम्भाले एक गम्भीर व्यक्ति बैठा है। उसके कंधों पर भारी ज़िम्मेदारी दी गई है। उसने नैतिकता, संस्कार, परम्परा का चश्मा पहन रखा है। कहीं वह एक ऐसा मिशन पूरा कर रहा है जो आज तक किसी ने सोचा भी नहीं, काश उसे डायबिटीज़ नहीं होती, उसे सम्पादन का काम करते समय चॉकलेट का डिब्बा सामने रखकर बैठने की आज़ादी होती। उसे अपनी मेज़ पर झंडा लगाने की हिदायत न दी गई होती। काश, उसकी कोट की जेब में दो मेंढक छिपाने की जगह होती। सम्पादक के कक्ष में बिल्लियों की आवाज़ाही पर बन्दिश न होती। तो शायद बात कुछ और होती। बाल साहित्य के बारे में हम इतने गम्भीर होकर क्यों विचार कर रहे हैं? आज के बच्चे हिन्दी के हम बाल साहित्यकारों को नहीं पढ़ रहे हैं तो परेशानी की क्या बात है? क्या इससे उनका कोई नुकसान हो रहा है? हम उन्हें क्या देना चाहते हैं?

हमारी-आपकी कहानी न पढ़ने वाले ये बच्चे करते क्या हैं? बेशक ये मनोरंजन के दूसरे तरीके ढूँढ़ लेते हैं। बहुत छोटे बच्चों को यह मनोरंजन कार्टून फ़िल्मों में मिलता है। फ़िल्म देखकर न तो बच्चा बोलता है कि मुझे इस फ़िल्म से यह शिक्षा मिली और न ही माता-पिता उसे शिक्षाप्रद फ़िल्म दिखाने पर अड़ते हैं। मैं अकसर सोचता हूँ, हिन्दी में 'मनोरंजनप्रद' शब्द का चलन क्यों नहीं है? लेखकों/सम्पादकों को कल्पनाशीलता की उन्मुक्त उड़ान भरने से एलर्जी क्यों है?

ये बच्चे कहानियाँ क्यों नहीं पढ़ते? क्या इन्हें कहानियाँ पसन्द नहीं?

ये बच्चे इसलिए नहीं पढ़ते क्योंकि इनको क्या चाहिए, यह

सोचकर लिखा ही नहीं जाता। अकसर हिन्दी का बाल साहित्यकार लिखने की इतनी जल्दी में रहता है कि वह लिख लेने के बाद ही सोचता है कि ये उसने क्या लिखा और किस पत्रिका को छपाने के लिए भेजे। या फिर बच्चे को क्या पढ़ने को दिया जाना चाहिए, जो उसको अच्छा बालक बनने में मदद करे, इस दायरे में रहते हुए लिखा जाता है। वह अपने दौर के एक ट्रेंड का पालन करता है। जैसा लिखा जा रहा है, जैसा छप रहा है, वह वैसा ही लिखता है।

काश, हिन्दी बाल साहित्यकार के सामने बड़े बेंचमार्क होते। वह अपनी रचना को सिर्फ़ छपाने के बजाय प्रसारण के सभी माध्यमों के लिए उपयुक्त बनाकर लिखता। कथा का धरातल वैश्विक रखता। उसके पात्र देश और सरहद की बन्दिश से आज़ाद होते। बड़े कैनवास की सोचेंगे तभी तो कल्पना को रंग मिलेंगे।

विषयांतर के जोखिम के साथ अपना एक अनुभव साझा करना चाहूँगा। दो वर्ष पूर्व मैं व मेरी पत्नी चार धाम की यात्रा पर थे। एक पहाड़ी गाँव से हमने कुछ लड़कियों को हरे चारे का गट्टर उठाए आते देखा। और यह भी देखा कि सभी लड़कियों के हाथ में स्मार्ट फ़ोन थे और वे सिर पर गट्टर उठाए चलते-चलते अपना मोबाइल से मनोरंजन भी करती जा रही थीं। कहने का मतलब यह है कि समझदारी, सामर्थ्य तथा शौक का शहरी और ग्रामीण भेद भी अब ज़्यादा नहीं रह गया है। नई पीढ़ी को आप उनके आनन्द की चीज़ नहीं देंगे तो वे उसे खुद ढूँढ़ लेंगे।

अब ज़रा बच्चों को पास बिठाइए और उनसे चॉकलेट फ़ैक्ट्री, 'मटिल्डा' (रॉल डाल), 'द कैट इन द हैट' (सेयस), 'द क्रॉनिकल्स ऑफ़ नार्निया' (सी.एस. लुईस), 'हैरी पॉटर सिरीज़' (जे.के. रोलिंग), 'एलिस इन वंडरलैंड' (लुईस कैरोल), 'द वैरी हंगरी कैटरपिलर' (एरिक कार्ले), 'द टेल ऑफ़ पीटर रैबिट' (बेट्रिक्स पीटर), 'स्टुअर्ट लिटिल' (एल.एफ. बॉय) के बारे में पूछिए, शायद आप इनसे अपरिचित हों, लेकिन सम्भावना है कि रैंकर बुक्स की विश्व की सबसे लोकप्रिय पुस्तकों में स्थान पाने वाली इन रचनाओं से वे परिचित हों, क्योंकि किसी ओटीटी प्लेटफ़ॉर्म पर उन्होंने इसे फ़िल्म के रूप में देखा होगा। टिनटिन या कुंग फू पांडा देखने से आप अपने बच्चों को यह कह कर रोकना चाहेंगे कि इसमें वास्तविकता का अभाव है। ये कपोल-कल्पना पर आधारित है। जी हाँ, यह तो है। मगर यही आज का शाश्वत सत्य है।

आज हिन्दी बाल साहित्यकार का पहला वर्ग वह है जो सत्तर/

सम्पर्क : मो. 9819424390, ई-मेल : samir.g1127@gmail.com

अस्सी के दशक से चुपचाप लिख रहा है। उसकी रचनाएँ आज के उपलब्ध माध्यमों में स्थान पाती हैं। वह समय-समय पर कुछ नए प्रयोग भी करता है। इस वर्ग ने हिन्दी बाल साहित्य का स्वर्णिम दौर देखा है, जब 'पराग', चंपक, बालहंस, 'नन्दन', 'बाल भारती', 'चन्दामामा', 'मेला', 'टिकल', 'लोटपोट', 'मधु मुस्कान', 'बालक', 'गुडिया', जैसी पत्रिकाएँ निकलती थीं जो हर पत्रिका स्टैण्ड पर मिलती थीं। समाचारपत्रों के साप्ताहिक परिशिष्ट बाल साहित्य को बड़े ही प्यार से छापते थे। इनमें रचना के प्रकाशित होने पर लेखक को मान्यता मिलती थी, पारिश्रमिक मिलता था लेकिन वह रचना के प्रकाशित होने पर गद्गद होकर सम्पादक/उप सम्पादक को नाम के साथ आभार नहीं प्रकट करता था। उसे अपनी रचना पर भरोसा था, इसलिए उसने उसे वहाँ प्रकाशनार्थ भेजा। सम्पादक को अपनी पत्रिका को आगे ले जाने के लिए अच्छी रचनाएँ चाहिए, इसलिए सम्पादक ने उसे छापा। इसलिए किसी को किसी का आभारी होने की आवश्यकता नहीं।

दूसरा लेखक वर्ग मुख्यः उन लेखकों का है जो नब्बे के दशक में आया। अब इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, रेडियो और टीवी के रूप में घर-घर में जगह बना चुका था। यह वर्ग सिर्फ भावुकता के आधार पर बाल साहित्य से नहीं जुड़ना चाहता था। उसने वैज्ञानिक सोच की बात उठाते हुए कहानी में तार्किकता की बात की। इस पीढ़ी ने कहा कि सीधे मुद्दे की बात करो। भाषा सरल रखो। बेसिर-पैर की कहानियाँ मत लिखो। तर्क अच्छे थे मगर जहाँ चारदीवारी बाँध दी जाती है, वहीं दोहराव शुरू हो जाता है। इसलिए इस दौर के लेखकों ने पैटर्न पर लिखना शुरू किया, जिससे कहानियों का सीमित विषयों के इर्द-गिर्द घूमना शुरू हो गया। यहाँ कुछ लेखकों ने परिवेश को अच्छी तरह समझने की कोशिश की। माँग और आपूर्ति के सिद्धान्त को समझते हुए लिखना जारी रखा। इस वर्ग के लिए मार्केटिंग का यह मन्त्र प्रेरणास्त्रोत था कि 'जो दिखेगा वही बिकेगा/टिकेगा'।

हिन्दी बाल साहित्यकारों का तीसरा वर्ग वह है जिसे साहित्यकार बनने का शार्टकट हिन्दी का बाल साहित्य लगा। यह वर्ग उम्र के किसी भी पड़ाव में हो सकता है। कुछ कहानियाँ, कविताएँ लिखकर फ़ेसबुक या किसी बाल साहित्य प्लेटफ़ॉर्म पर डालने के बाद उसे यकीन हो जाता है कि हिन्दी बाल साहित्य को उसके योगदान से वंचित नहीं रहना चाहिए। अगर किसी पत्र-पत्रिका ने इन्हें प्रकाशन योग्य नहीं समझा तो भी ये निराश हुए बिना कुछ ऐसे प्रकाशकों की शरण ले लेते हैं जो इनकी सहायता को आतुर होते हैं। गौरतलब यह है कि ऐसे लेखकों/लेखिकाओं का यह संकलन कविताओं का होता है। सूरज, चाँद, तितली, बन्दर, तोता, माँ, सुबह, रात, दूध-मलाई पर क्रान्तिकारी कविताएँ।

हिन्दी बाल साहित्य का एक चौथा वर्ग भी है जो लिखता भी है और लेखन की दिशा भी दिखाता है। इसमें आता है सबसे पहले उनका लेखन। उनकी कहानी या कविता कहीं छपे तो कद्रदान मेहरबान होकर पुष्पवर्षा करने लगते हैं। उनकी रचना को किसी कसौटी पर नहीं कसा जाता, क्योंकि वे नई दिशा बना रहे हैं। इस वर्ग में अपनी उपलब्धियों को गिनवाने की परम्परा है। वे कई बार वेबिनार में प्रकट होते हैं। बाल साहित्य (हिन्दी) के हित में वे देश-विदेश में हो रहे अपने उल्लेखनीय काम का हवाला देते हैं। वे विश्वविद्यालयों में जाकर इस विषय पर परचे पढ़ने की बात करते हैं। बताते हैं कि कितने स्कूलों की पाठ्यपुस्तकों

में उनकी रचनाएँ पढ़ाई जा रही हैं। यह वर्ग ग़ज़ब की जानकारी रखता है। कब बाल साहित्य का कौन-सा आयोजन कहाँ होने वाला है। कहाँ निर्णायकों में शामिल होने की सम्भावनाएँ हैं। पुरस्कारों की कार्यपद्धति से लेकर उसकी राजनीति से ये पूरी तरह अवगत होते हैं।

अब दूसरा सवाल पैदा होता है लेखक कहाँ लिखे, क्या लिखे, क्यों लिखे? क्या उसके लिखने या न लिखने के कोई फ़र्क पड़ेगा?

जहाँ मार्केट नहीं, प्रतिस्पर्धा नहीं वहाँ कहानीकार और किसान में ज़्यादा फ़र्क नहीं रह जाता। किसान औने-पौने भाव पर अपना माल मंडी में छोड़ जाता है और हिन्दी का बाल साहित्य लेखक फ़ेसबुक से लेकर किसी भी इलेक्ट्रॉनिक/ऑनलाइन माध्यम पर अपलोड कर देता है। सम्पादक के क्वालिटी कंट्रोल के पैमाने से भी नहीं गुज़रना पड़ता। अस्सी-नब्बे के दशक में मुझे आनन्द प्रकाश जैन, कन्हैया लाल नन्दन, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, परेशनाथ, अनन्त पै, योगेन्द्र कुमार लल्ला, हरिकृष्ण देवसरे जैसे सम्पादकों से मिलने का सौभाग्य मिला। मैंने पाया कि ये अपनी भाषा की सीमाओं से आगे जाकर पढ़ने वाले और दुनियाभर में बाल साहित्य में क्या लिखा जा रहा है, की सुध रखने वाले सम्पादक थे।

जब मैं अपने नए-पुराने लेखक मित्रों से पूछता हूँ क्या पिछले एक या दो दशक में हिन्दी बाल साहित्य में कुछ अद्भुत लिखा गया है तो वे एक भी ऐसे संकलन या उपन्यास का नाम नहीं बता पाते, जो अपनी अलग पहचान बना पाया हो।

अध्यापक कहते हैं कि स्कूल की लाइब्रेरी में बाल साहित्य की किताबें नाममात्र की होती हैं। कुछ किताबों से सदाचार, नैतिकता यूँ टपकती हैं कि बच्चे दूर भागते हैं। मुझे लगता है हिन्दी बाल साहित्य को अनलर्निंग या खाली होने की प्रक्रिया से गुज़रना होगा। आज जो प्रासंगिक नहीं है, उपयोगी नहीं है, जो प्रगतिशील नहीं है, उसे कचरे की तरह निकाल बाहर करना होगा और इस तरह की रचनाओं के प्रवाह को रोकना भी ज़रूरी है।

अतिउत्साही लेखकों/कवियों को यह बतलाया जाना बहुत ज़रूरी है कि जैसा छप रहा है वैसा नहीं लिखना है, बल्कि जो नहीं लिखा गया है, जो अछूता है उस पर लिखा जाना है। इसके लिए रचनाकार को खूब पढ़ना होगा। लेखन के दायित्व को समझना होगा।

अगर आप अपना प्रोडक्ट टारगेट ऑडियंस के पास लेकर नहीं जाएँगे तो उसे आपके प्रोडक्ट के बारे में जानकारी कहाँ से मिलेगी, और चूँकि यह प्रोडक्ट ज़रूरी कमोडिटी में नहीं आता, इसलिए वह अपनी तरफ़ से तो खोजने से रहा। 'नन्दन' बन्द हो गया क्योंकि उसके पास आर्थिक आधार पाने के लिए विज्ञापन नहीं थे। चंपक वन और नन्दन वन की कहानियाँ लिखकर लेखकगण उसे सहारा न दे सके। मुझे मालूम नहीं कि कॉर्पोरेट में एडिटोरियल और सेल्स/मार्केटिंग के बीच कोई रिश्ता होता है लेकिन सम्पादकीय विभाग अगर बच्चों के प्रोडक्ट्स/एनजीओ आदि के साथ जुड़कर इस दिशा में कुछ करता तो शायद थोड़ी और ऑक्सीजन का इंतज़ाम हो सकता था। मराठी-बांग्ला की बाल पत्रिकाएँ अपने दीपावली तथा दुर्गा पूजा विशेषांकों के लिए रचनाओं के साथ-साथ विज्ञापन जुटाना भी समय रहते शुरू कर देती हैं और ये बाल साहित्य विशेषांक हाथों-हाथ बिकते हैं।

उत्तराखंड और उत्तर प्रदेश से प्रकाशित होने वाली दो बाल

पत्रिकाएँ अपने जुझारूपन के साथ बाल पाठकों, विद्यालयों के साथ जुड़ती हैं। सदस्यता अभियान चलाती हैं। बच्चों की रचनाओं को अपने यहाँ प्रकाशित करती हैं, उन्हें पुरस्कार देकर प्रोत्साहित करती हैं। ये दोनों पत्रिकाएँ अपने बलबूते पर विज्ञापन भी हासिल कर लेती हैं। हालाँकि ये क्षेत्रीय स्तर की पत्रिकाएँ ही बन पाई हैं।

एक ज़माने में रेडियो पर भी बाल पत्रिकाओं के जंगल बजते थे। अब जब प्राइवेट रेडियो पर कहानी कहने के कई प्रोग्राम सफल हो चुके हैं, तो पूरे ताम-झाम के साथ बनाया गया बच्चों का प्रोग्राम क्यों लोकप्रिय नहीं हो सकता।

देर-सवेर हर लेखक का मिशन होता है अपनी किताब या संकलन छपवाना। दस-बीस कहानियाँ या बीस-तीस कविताएँ लिख लीं, आत्ममुग्धता के दौर में जी लिए। फिर अगला कदम होता है संकलन छपवाना। प्रकाशन जगत में सरकारी प्रकाशन की अपनी शर्तें और सीमाएँ हैं। यहाँ से आप छप गए तो आपको रॉयल्टी मिलेगी। आपकी पुस्तक बिकेगी। शायद आपको शोहरत भी दिलाए मगर इसमें नए लेखक को वक्त लग सकता है। एक ज़माने में पराग प्रकाशन, शकुन प्रकाशन जैसे बाल साहित्य को समर्पित प्रकाशक थे जो रचनाओं की गुणवत्ता के आधार पर पाण्डुलिपियाँ स्वीकार करते थे लेकिन आज पाण्डुलिपि के साथ 100 पुस्तकों की खरीद का वचन दीजिए या 15 से 20 हजार रुपए खर्च कीजिए आपकी पुस्तक छप जाएगी, साथ में आपको 100 प्रतियाँ भी मिल जाएँगी। अर्थव्यवस्था में हलचल होगी तभी तो देश आगे बढ़ेगा। मेरे एक मित्र ने बताया था कि एक प्रकाशक के पास तो हिन्दी साहित्य पर पी-एच.डी. दिलाने का पूरा पैकेज प्रोग्राम है। हिन्दी बाल साहित्य की स्थिति चाहे कैसी भी हो, कुछ बाल साहित्यकारों पर शोध कार्य काफ़ी हुआ है। वैसे यह भी अलग से एक शोध का विषय है।

बेशक कुछ लोगों ने आलोचना विधा में योगदान दिया है, लेकिन क्या इतिहास को समेट देने, काल विभाजन करने, पत्रिकाओं का विवरण देने मात्र या सबकी वाह-वाह करने से आलोचना का धर्म पूरा हो जाता है। मैं आलोचना/समालोचना की ऐसी पुस्तक पढ़ना चाहता हूँ जो छोटे-छोटे लेखों के ज़रिए हिन्दी बाल साहित्य के शुरू से अब तक के दौर का मूल्यांकन करे। जो बस लेखक के अपने काल खंड तक सीमित न हो। जहाँ आलोचक की निरपेक्षता झलके। वह बिना किसी से आतंकित हुए या किसी को आतंकित किए बिना समीक्षा कर सके। आलोचना के बहाने अपना विज्ञापन कराना बहुत ही फूहड़ तरीका है।

हिन्दी बाल साहित्य को पाठक तभी मिलेंगे और उसके साथ ही इसके दिन फिरेंगे जब कुछ लेखकों की कृतियाँ अपनी सीमाएँ तोड़कर

दूसरी भाषाओं, अभिव्यक्ति की दूसरी विधाओं यथा ऑडियो/वीडियो, वेबसिरीज़, कार्टून फ़िल्मों के रूप में आएँगी। हैदराबाद की एक कम्पनी ग्रीन गोल्ड एनिमेशन ने 'छोटा भीम' और 'कृष्ण सिरीज़' बनाकर इस दिशा में अच्छी आस जगाई है। 'आज छोटा' भीम की नेटफ़्लिक्स पर मौजूदगी ने इसे इंटरनेशनल ब्रांड बना दिया है।

ऐसे में अब सम्पादकों के साथ-साथ विभिन्न पुरस्कार समितियों के निर्णायकों की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। कई बार बाल साहित्य से जुड़े पुरस्कारों के निर्णायकों का बाल साहित्य से दूर-दूर का कोई लेने-देना नहीं होता। कई बार संस्थाएँ नए प्रतिभावान निर्णायकों की खोज करने का सिरदर्द ही नहीं लेना चाहतीं।

पुरस्कार तो उसे मिलेगा जो रेस में होगा और रेस में कौन होगा इसका निर्णय कई बार स्थापित लेखकों पर सौंपा जाता है। हाँ, कुछ संस्थाएँ या राज्य बाल साहित्यकारों से पुरस्कार के लिए विचारार्थ पुस्तकें भी माँगवाती हैं। क्या संस्तुति करने वाले पूरी तरह से तटस्थ रह पाते हैं। क्या वे वर्तमान में लिखे जा रहे समस्त हिन्दी बाल साहित्य तक पहुँच रखते हैं? क्या उन्होंने समीक्षाधीन वर्षों के दौरान प्रकाशित पूरे बाल साहित्य को पढ़ा है? मैंने पाया है कि बहुत से लेखक उम्र के साथ नए प्रचलनों से तालमेल नहीं बिठा पाते हैं, उन्हें टेक्नोलॉजी में दोष ही दोष नज़र आते हैं। एक वेबिनार में एक वरिष्ठ तथा अच्छा लिखने वाली लेखिका ने यह कहा कि विदेशों का परिवेश दूसरा है इसलिए उनकी कहानियाँ सम्भवतः हमारे बच्चों को लुभा न पाएँ। मैं इससे सहमत नहीं। कुंग फू पांडा, यंग शेलडन, बेलवेटिन रैबिट क्या आज दुनियाभर के बच्चों की साझा विरासत नहीं हैं।

आज भी 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश' की पद्य कथाएँ और अकबर-बीरबल, तेनालीराम की कहानियाँ लिखकर बाल साहित्य को समृद्ध करने की दुहाई देने वाले लेखक मौजूद हैं।

बाल साहित्य के पुरस्कार के लिए निर्णायक मंडल का गठन करते समय बाल साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। उन लेखकों की साहित्यिक प्रामाणिकता होनी चाहिए। अयोग्य के पुरस्कृत होने या योग्य के अपुरस्कृत रह जाने से पुरस्कार का अनादर होता है। निर्णायक मंडल के लिए एक नियमावली तो अवश्य ही होगी, सुनिश्चित करना होगा कि उसका सख्ती से पालन हो और उसकी अवहेलना करने वाले को हमेशा के लिए समिति से बाहर कर दिया जाए।

बाल साहित्य को अगर बचाना है तो इसे कुछ और यक्ष प्रश्नों का उत्तर देना होगा। बाल साहित्य को गम्भीरता से लेना होगा। □

प्रकाशन विभाग की बालोपयोगी पुस्तकें





इक्कीसवीं सदी का बाल साहित्य और चुनौतियाँ

अखिलेश श्रीवास्तव चमन

कोई भी साहित्य अपने समकालीन समाज का दस्तावेज़ होता है। तात्पर्य यह है कि साहित्य को सतत् सामाजिक परिवर्तनों के अनुरूप परिवर्तनशील एवं समय-सापेक्ष रहना होता है। जो साहित्य समय के सापेक्ष नहीं रह पाता है, अपने समय के साथ कदमताल नहीं कर पाता है, वह अनादृत, अस्वीकृत और अंततः विस्मृत कर दिया जाता है।

परिवर्तन यूँ तो निरन्तर गतिशील रहने वाली प्रवृत्ति है फिर भी इक्कीसवीं सदी के आगमन के एक-डेढ़ दशक पहले से इसकी गति बहुत तीव्र हो गई है। इस अवधि में अर्जित अभूतपूर्व वैज्ञानिक उपलिब्धियों विशेष रूप से सूचना एवं संचार तकनीकी के क्षेत्र में आए क्रान्तिकारी परिवर्तन ने हमारे सामाजिक परिदृश्य को बिल्कुल ही बदल कर रख दिया है। इससे एक तरफ़ जहाँ हमारी जीवनशैली में व्यापक बदलाव आया है, हमारी सुख-सुविधा के संसाधन बढ़े हैं, सामाजिक जीवन की जागरूकता एवं गतिशीलता बढ़ी है वहीं दूसरी तरफ़ बहुत सारी नई तरह की चुनौतियाँ भी पैदा हो गई हैं। वैसे तो इन चुनौतियों से कमोबेश हर कोई प्रभावित हुआ है लेकिन यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं हमारे बच्चे और किशोर। नाना प्रकार के संचार साधनों की बहुतायत ने दूरियों को समेटने तथा सूचना और ज्ञान सुलभ कराने के साथ-साथ बच्चों के बिगड़ने, दिग्भ्रमित होने तथा उनकी मानसिकता के विकृत होने के भी बहुत सारे अवयव जुटा दिए हैं। आज जबकि सामाजिकता लगभग छिन्न-भिन्न हो चुकी है, संयुक्त परिवार विघटित हो चुके हैं और माता, पिता दोनों ही कामकाजी हैं, ऐसे कठिन समय में बाल साहित्य ही एक मात्र ऐसा साधन दिखता है जो भटकाव के लिए अभिशप्त हो चुके बच्चों को कृत्रिमता एवं भौतिकता की चकाचौंध के दलदल से निकाल कर यथार्थ एवं व्यावहारिकता का बोध करा सकता है। तात्पर्य यह कि बच्चों तथा किशोरों के परिप्रेक्ष्य में संचार साधन जनित विकृतियों एवं चुनौतियों से निपटने का सर्वाधिक कारगर साधन बाल साहित्य ही है।

इस लेख का शीर्षक 'इक्कीसवीं सदी की चुनौतियाँ और बाल साहित्य की भूमिका' वस्तुतः अपने-आप में दो विषयों को समेटे हुए है। पहला विषय है इक्कीसवीं सदी की चुनौतियाँ, वह भी विशेष रूप से बचपन के परिप्रेक्ष्य में तथा दूसरा विषय है उक्त चुनौतियों के सन्दर्भ में बाल साहित्य की भूमिका।

पहला प्रश्न है कि बाल साहित्य क्या है? सच कहें तो यह एक ऐसा दुरूह प्रश्न है जिसका बिल्कुल सटीक उत्तर दिया जाना सम्भव ही नहीं है। ठीक वैसे ही जैसे कि हमारे चारों तरफ़ हवा है लेकिन यदि कोई हमसे पूछे कि हवा क्या है तो हम उसे बिल्कुल सही ढंग से परिभाषित नहीं कर सकेंगे। मेरा अपना मानना है कि हमें मनुष्य बनाने या यों कहें कि एक सामाजिक जानवर (social animal) के अंदर मनुष्यता के बीज डालने का कार्य करने वाला अवयव ही बाल साहित्य है। कोई आवश्यक नहीं कि वह मुद्रित रूप में ही हो। बच्चा जन्म लेने के बाद से ही अपनी माँ की लोरी के रूप में, पिता की प्यार भरी नसीहतों के रूप में अथवा दादा-दादी, नाना-नानी तथा अन्य बड़े-बुजुर्गों के मुख से किस्सों-कहानियों आदि के रूप में जो कुछ भी सुनता और गुनता है वह सब कुछ बाल साहित्य ही है।

हम यह कह सकते हैं कि, "बाल साहित्य का स्वरूप बहुत व्यापक एवं अमूर्त है। यह वह अवयव है जो अपने विविध रूपों में बच्चे का उसके समय, समाज एवं परिवेश के साथ प्रथम साक्षात्कार कराता है।

एक प्रश्न है कि बाल साहित्य का उद्देश्य क्या है? वैसे बाल साहित्य के उद्देश्य को लेकर हमेशा ही मतभेद की स्थिति रही है। कुछ लोगों के अनुसार बाल साहित्य का मुख्य उद्देश्य बच्चों को बहलाना या उन्हें मनोरंजन प्रदान करना मात्र है। कुछ अन्य की दृष्टि में बाल साहित्य ऐसा होना चाहिए जो बच्चों को शिक्षित, संस्कारित करे और उनके चरित्र एवं व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास सुनिश्चित करे। विस्तार में न जाकर मैं इस प्रश्न का उत्तर इतिहास के पन्नों से देना चाहूँगा। ऐतिहासिक बाल पत्रिका 'बालसखा' के सम्पादक लल्ली प्रसाद पाण्डेय ने 'बालसखा' के जनवरी 1917 के अंक में लिखा था कि, "बाल साहित्य का उद्देश्य है बालक, बालिकाओं में रुचि लाना, उनमें उच्च भावनाओं को भरना और उनमें से दुर्गुणों को निकाल कर बाहर करना, उनका जीवन सुखमय बनाना और उनमें हर तरह का सुधार करना।"

हरिकृष्ण देवसरे के अनुसार, "बाल साहित्य बच्चों के उन अंकुरों को पुष्ट करता है जो बड़े होकर उन्हें जीवन के सत्य को पहचानने में सहायता करते हैं।"

अब आते हैं इक्कीसवीं सदी की चुनौतियों पर। इक्कीसवीं सदी को मुख्यतया संचार साधनों में आई क्रान्ति के लिए जाना जाता है। यह

संचार क्रान्ति की ही देन है कि आज सारी दुनिया हमारी मुट्ठी में है और अच्छी, बुरी हर सूचना हमसे मात्र एक क्लिक की दूरी पर है। वैसे तो इक्कीसवीं सदी ने हमारे सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में अनेकानेक चुनौतियाँ पैदा की हैं लेकिन यहाँ हम सिर्फ़ उन चुनौतियों की बात करते हैं जो बच्चों, बचपन और बाल साहित्य के समक्ष हैं। किसी समय अंग्रेज़ी में एक बहुत प्रचलित मुहावरा हुआ करता था कि “science is a good servant but a bad master.” आज हू-ब-हू यही बात संचार साधनों के सन्दर्भ में कही जा सकती है। इसके भले, बुरे प्रभाव का सारा दारोमदार इस बात पर निर्भर है कि हम इसका उपयोग किस रूप में करते हैं। इसे अपने नियंत्रण में रखते हैं या कि जाने-अनजाने हम खुद इसके नियंत्रण में आ जाते हैं।

इक्कीसवीं सदी के आगमन के साथ ही हमारे घरों में एक के बाद एक तीन पर्दों का प्रवेश हुआ है और इन तीनों पर्दों ने हमारी सुख-शान्ति, शील-संस्कार, अदब-लिहाज़, शर्म-हया, मान-मर्यादा सब कुछ बेपर्दा कर के रख दिया है। ये तीनों पर्दे हैं टी.वी., कम्प्यूटर और मोबाइल के पर्दे। इन तीनों पर्दों की कृपा से आज कुछ भी अज्ञेय या गोपन नहीं रह गया है। भला-बुरा, सच-झूठ और श्लील-अश्लील सब कुछ अपने नग्नतम रूप में हमारे सामने खुला पड़ा है। बस एक बटन दबाने या क्लिक करने भर की देरी है। उस पर कोढ़ में खाज वाली बात यह है कि आज के बच्चों की पहुँच इन तीनों ही पर्दों तक हो चुकी है। आज का अभिभावक वर्ग लाख चाहने के बावजूद भी अपने बच्चों को इक्कीसवीं सदी के इन उपादानों से दूर नहीं रख सकता है।

टी.वी. और इंटरनेट की देन यह है कि आज बच्चों से उनका बचपन छिन चुका है। उनके अंदर से बचपना, भोलापन, सहजता, सरलता, कोमलता, चंचलता, निश्छलता, सहनशीलता तथा सहिष्णुता आदि भाव लुप्त होते जा रहे हैं। आज आँखें खोलते ही बच्चे का प्रथम साक्षात्कार टी.वी. के पर्दे से होता है। टी.वी. का आलम यह है कि अपनी रेटिंग बढ़ाने व विज्ञापन बटोरने के लिए विभिन्न चैनलों के मध्य अधिकाधिक हिंसा, क्रूरता, अपराध, सनसनी, षड्यन्त्र, अश्लीलता, वीभत्सता, और अंधविश्वास परोसने की होड़-सी मची हुई है।

टी.वी. के कार्यक्रमों से प्रभावित हो कर बच्चों के हिंसक होने, उनके उद्दण्डता करने, अपराध करने, भाग्यवादी बनने तथा मामूली बातों पर आत्मघाती कदम उठाने आदि की खबरें आए दिन अखबारों में पढ़ने को मिलती रहती हैं। इन नाना प्रकार के नकारात्मक प्रभावों से बच्चों को बचा ले जाना आज के अभिभावक के समक्ष एक बहुत बड़ी चुनौती बन चुका है। इस चुनौती से निपटने का कार्य बाल साहित्य ही कर सकता है। सूचनापरक, उद्देश्यपरक, यथार्थपरक, आदर्शपरक, तार्किक, विज्ञान सम्मत, स्वस्थ और प्रेरक बाल साहित्य के द्वारा बच्चों को बतलाया जा सकता है कि हर चमकती चीज़ सोना नहीं होती है। व्यावहारिक बाल साहित्य के माध्यम से बच्चों को आसन्न खतरों के प्रति सचेत किया जा सकता है। उन्हें जीवन, जगत की सच्चाइयों से अवगत कराया जा सकता है। उन्हें कर्मवादी, तर्कशील एवं व्यावहारिक बनाया जा सकता है और इस प्रकार बच्चों को उनके परिवेश के नकारात्मक प्रभावों से बचाया जा सकता है।

इक्कीसवीं सदी की तीसरी चुनौती है आज का अर्थ केन्द्रित समाज और भौतिकता के पीछे मची अंधी दौड़। इसका दुष्परिणाम यह है कि

बच्चे अपनी संस्कृति, संस्कार, सदाचार और जड़ों से कटते जा रहे हैं। संचार माध्यमों ने लुभावने विज्ञापनों के द्वारा हमारी इच्छाओं को इतना अधिक विस्तार दे दिया है कि मन की संतुष्टि आकाश कुसुम बनकर रह गई है। जिसे देखो वही अधिकाधिक सुख, सुविधा और सम्पन्नता की चाहत में पागल हुआ जा रहा है। उत्पादकों द्वारा अधिकांश उत्पादों के विज्ञापन बच्चों के ही माध्यम से कराए जाते हैं। यहाँ तक कि जो चीज़ें बच्चों के उपयोग की नहीं हैं उनमें भी बच्चों को शामिल किया जाता है। इसके पीछे उनका उद्देश्य होता है बच्चों के मन-मस्तिष्क में पैठ बना कर उनके माध्यम से अभिभावक वर्ग तक पहुँचना। सही-गलत में भेद कर सकने में अक्षम होने के कारण बच्चे विज्ञापित बातों को सत्य मान लेते हैं। वे विज्ञापित वस्तु के प्रति आकर्षित हो जाते हैं और उसकी प्राप्ति के लिए ज़िद ठान लेते हैं। समर्थ अभिभावक बच्चों की ज़िद के सामने झुक जाते हैं, थोड़ी ना-नुकुर के पश्चात अंततः बच्चे की इच्छा पूरी कर देते हैं और इस प्रकार उत्पादकों की मंशा पूरी हो जाती है।

स्वाभाविक-सी बात है कि हर अभिभावक विशेष रूप से मध्य वर्ग तथा निम्न-मध्य वर्ग के अभिभावक अपनी आर्थिक सीमाओं के कारण बच्चे की हर इच्छा की पूर्ति नहीं कर पाते हैं। और बच्चों की स्थिति यह होती है कि उनको अपने अभिभावकों की आर्थिक सीमा का ज्ञान नहीं होता है। इसकी परिणति बच्चों में हताशा, निराशा, कुंठा, नशाखोरी तथा अन्य आत्मघाती कदमों के रूप में होती है। संयुक्त परिवार तो ख़ैर अब रहे ही नहीं, स्वयं माँ-बाप के पास भी आज इतना समय नहीं है कि वे अपने बच्चों के साथ बैठें, उनकी बातें सुनें, समझें और उनकी जिज्ञासाओं का शमन करें। ऐसे में बाल साहित्य की भूमिका और भी अधिक बढ़ जाती है। अकेलेपन के शिकार, यथार्थ से कटे, दिग्भ्रमित बच्चों के सही मार्गदर्शन का दायित्व अंततः बाल साहित्य पर आ जाता है। यदि प्राचीन काल में बाल साहित्य ने ‘पंचतन्त्र’ और ‘हितोपदेश’ आदि के रूप में यह कार्य बखूबी किया है तो आज भी कर सकता है।

चौथी चुनौती यह है कि इक्कीसवीं सदी की भौतिकतावादी संस्कृति ने आज के अभिभावक वर्ग की मानसिकता को बदल कर रख दिया है। अपने बच्चों को लेकर माता-पिता की अति महत्वाकांक्षा, उनके भविष्य के प्रति अति संवेदनशीलता तथा अंग्रेज़ी माध्यम के विद्यालयों की यान्त्रिक शिक्षा प्रणाली ने बच्चों को बिल्कुल मशीनी रोबोट बना दिया है। उन्हें संस्कृति, संस्कार, साहित्य, समाज और परिवेश से बिल्कुल काट कर रख दिया है। आज के एकल परिवारों में न तो बड़े-बूढ़ों की उपस्थिति रह गई है और न ही सामाजिक मेल-जोल के अवसर। पहले के समय में विद्यालयों में बच्चों के बीच वाद-विवाद, अंत्याक्षरी तथा भाषण आदि की प्रतियोगिताओं का चलन था। विद्यालयों में तुलसी जयन्ती, सूर जयन्ती, गाँधी जयन्ती, निराला जयन्ती आदि के आयोजन हुआ करते थे। इन आयोजनों के चलते बच्चों का साहित्य और उसी बहाने अपनी संस्कृति से जुड़ाव बना रहता था लेकिन आज वह सब गुज़रे कल की बातें हो चुकी हैं।

ऐसा नहीं है कि बाल साहित्यकार इन चुनौतियों से अनभिज्ञ हैं और हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं बल्कि बाल साहित्यकारों ने इक्कीसवीं सदी की इन चुनौतियों की आहट बहुत पहले ही महसूस कर ली थी। नब्बे के दशक में ‘पराग’ के सम्पादक हरिकृष्ण देवसरे के नेतृत्व में तार्किक, व्यावहारिक, यथार्थ परक और विज्ञान-सम्मत बाल साहित्य के सृजन का

एक आंदोलन चला था जिसमें निरंकार देव सेवक, शंकर सुल्तानपुरी, विष्णु प्रभाकर, श्रीप्रसाद, मनोहर वर्मा, शम्भु प्रसाद श्रीवास्तव, प्रकाश मनु, आनन्द प्रकाश जैन, योगेन्द्र कुमार लल्ला, हरिकृष्ण तैलंग, डा. बालशौरि रेड्डी, दामोदर अग्रवाल, नारायण लाल परमार, जहूर बख्श, शेरजंग गर्ग, शोभनाथ लाल, रोहिताश्व अस्थाना, देवेन्द्र कुमार, रमेश तैलंग, बालस्वरूप राही, सरोजिनी कुलश्रेष्ठ आदि लेखकों ने बढ़-चढ़कर भागीदारी की थी। आज जयंत विष्णु नालीकर, गुणाकर मुले, ललन कुमार प्रसाद, देवेन्द्र मेवाड़ी, अरविन्द मिश्र, समीर गांगुली, रमाशंकर तथा राजीव सक्सेना जैसे लेखक विज्ञान के विविध पक्षों पर बच्चों के लिए खूब लिख रहे हैं और बहुत रोचक ढंग से लिख रहे हैं। इनके अतिरिक्त परशुराम शुक्ल, ओम प्रकाश कश्यप, उषा यादव, राजनारायण चौधरी, हरीश निगम, सूर्यकुमार पाण्डेय, भगवती प्रसाद द्विवेदी, सुरेन्द्र विक्रम, अमिताभ शंकर राय चौधरी और घमंडीलाल अग्रवाल जैसे लेखकों से लेकर शकुन्तला कालरा, नयन कुमार राठी, मो. अरशद खान, मो. साजिद खान, नागेश पाण्डेय 'संजय', शादाब आलम, शशिभूषण बडोनी, पवन कुमार वर्मा, रावेन्द्र कुमार रवि, श्यामनारायण श्रीवास्तव, अलका प्रमोद, दर्शन सिंह आशट, रामकरन और कामना सिंह आदि सरीखे ढेर सारे रचनाकार सार्थक बाल साहित्य रचकर अपने तरीके से इक्कीसवीं सदी की चुनौतियों का जवाब दे रहे हैं।

आज सारी चुनौतियों से बड़ी और सबसे विकट चुनौती है बाल पाठकों तक बाल साहित्य को पहुँचाने की। आप का उत्पाद लाख अच्छा हो, लाख उपयोगी हो लेकिन अगर वह उपभोक्ता तक नहीं पहुँच पा रहा है तो बेकार है। ठीक यही समस्या आज बाल साहित्य के समक्ष भी है। आज के बच्चे बाल साहित्य से बिल्कुल कट गए हैं। विद्यालयों में न तो पुस्तकालय हैं और न ही बच्चों को पाठ्यक्रम से इतर कुछ पढ़ने, पढ़ाने की गुंजाइश। घरों में साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का आना भी अब

गुजरे कल की बातें हो चुकी हैं। संचार साधनों का भी साहित्य से कुछ लेना-देना नहीं है। ऐसे में समस्या है कि बाल साहित्य बच्चों तक पहुँचे तो कैसे पहुँचे।

आज बच्चे-बच्चे के हाथ में लैपटॉप, टैबलेट, पेजर और स्मार्टफोन आदि जैसे उपकरण हैं। स्कूल और होमवर्क से जो थोड़ा बहुत समय बचता है बच्चा उसे इन उपकरणों के हवाले कर देता है। इन उपकरणों से बच्चों को जानकारी तो मिल जाती है लेकिन ज्ञान नहीं। ऐसे में हम सिर्फ मुद्रित सामग्री के भरोसे नहीं रह सकते हैं। बच्चों तक पहुँचने के लिए हमें इन डिजिटल माध्यमों पर भी जाना होगा और इन माध्यमों के जरिए बच्चों में साहित्यिक अभिरुचि पैदा करनी होगी। जिस प्रकार विभिन्न विज्ञापन कम्पनियाँ सूचना तकनीक के इन माध्यमों के जरिए बच्चों तक अपने उत्पाद पहुँचा रही हैं, ठीक उसी प्रकार आज बाल साहित्य को भी बच्चों तक पहुँचाना होगा। यह कार्य जितनी जल्दी और जितने नियोजित तरीके से हो सके उतना ही उत्तम होगा। अगर ऐसा नहीं किया गया तो न सिर्फ बाल साहित्य बल्कि सम्पूर्ण साहित्य के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लग जाएगा क्योंकि आज का बच्चा ही कल साहित्य का पाठक, लेखक और आलोचक होगा। अतः बच्चों को साहित्य से जोड़े बगैर भाषा और साहित्य की प्रगति की कल्पना करना ठीक वैसे ही होगा जैसे बीज बोए बगैर फल खाने की कामना करना।

इस प्रकार हम पाते हैं कि आज इक्कीसवीं सदी में बाल साहित्य की भूमिका और उसका उत्तरदायित्व पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक बढ़ गया है। मैं अपनी बात का समापन मुंशी प्रेमचन्द के कथन के साथ करना चाहूँगा। मुंशी प्रेमचन्द ने 'हंस' के सम्पादकीय में लिखा था, "बालक को प्रधानतः ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि वह जीवन में अपनी सुरक्षा आप कर सके। बालकों में इतना विवेक होना चाहिए कि वे हर एक काम के गुण-दोष को भीतर से देखें।" □

प्रकाशन विभाग की बालोपयोगी पुस्तकें



प्रकाशन विभाग की पुस्तकों के लिए विभिन्न केन्द्रों और नई दिल्ली के सूचना भवन स्थित पुस्तक दीर्घा में सम्पर्क करें। प्रकाशन विभाग की ई-पुस्तकों को विभाग की वेबसाइट www.publicationsdivision.nic.in और भारतकोश प्लेटफॉर्म के द्वारा ऑनलाइन भी खरीदा जा सकता है। ई-पुस्तकें एमेज़ॉन और गूगलप्ले पर भी उपलब्ध हैं।

फूचाजी

कुमार विश्वबन्धु



उसने अपना दायाँ हाथ लहराकर अपनी नन्ही-नन्ही उँगलियों को हिलाते हुए मुझे चेतावनी दी, “नो, नो फूचाजी! नो नो!” और दो-तीन कदम पीछे हटकर खड़ा हो गया।

स्पष्टतः उसने मुझे एक विशेष खतरे के रूप में चिन्हित कर लिया था और इसलिए अपने-आप को मुझसे दूर रखने पर आमादा था।

मेरी पत्नी करुणा ने अपने दोनों हाथों को आगे फैलाकर पूछा, “मेरु, बुआ के पास आएगा?”

जवाब में उसने मुस्तेदी से अपनी गर्दन हिलाकर हामी भरी, कहा, “यस!”

फिर मेरी तरफ़ सशक्त दृष्टि से देखकर वहाँ मौजूद घर के सभी लोगों को उसने किसी बादशाह की तरह अपना फ़रमान सुना दिया, “नो फूचाजी!”

मैं नहीं कह सकता कि अगर मेरु की जगह उस वक़्त सचमुच का कोई बादशाह होता तो मुझे क्या सज़ा देता लेकिन मुझे स्वीकार करना चाहिए कि तीन साल के नन्हे मेरु का दिल किसी बादशाह जैसा ही बड़ा था क्योंकि मेरी लापरवाही की वजह से केवल दस मिनट पहले उसे बहुत ज़्यादा चोट ही नहीं लगी थी, बल्कि उसकी जान भी जाते-जाते बची थी।

बच्चों ने अपनी गहरी समझदारी और असाधारण सहनशीलता से मुझे पहले भी कई बार आश्चर्यचकित किया है। आज भी मैं दंग था। उसे जैसी ज़बरदस्त चोट लगी थी, उससे उसे कितना भीषण, कितना असहनीय दर्द हुआ होगा? उसकी मैं ठीक तरह से कल्पना भी नहीं कर पा रहा था।

हुआ यह कि शाम के समय हम लोग छत पर जा रहे थे। छत पर पहुँचते ही यक-ब-यक मैंने हुलसकर उसे दोनों हाथों से पकड़ लिया और वेग से अपने माथे के ऊपर उठा लेना चाहा। उस समय मैं छत पर खुलनेवाले दरवाज़े से ज़रा-सा ही बाहर निकला था। मेरे माथे के ठीक ऊपर छज्जा है, इसका मुझे बिलकुल खयाल नहीं था। नतीजा, मेरु का

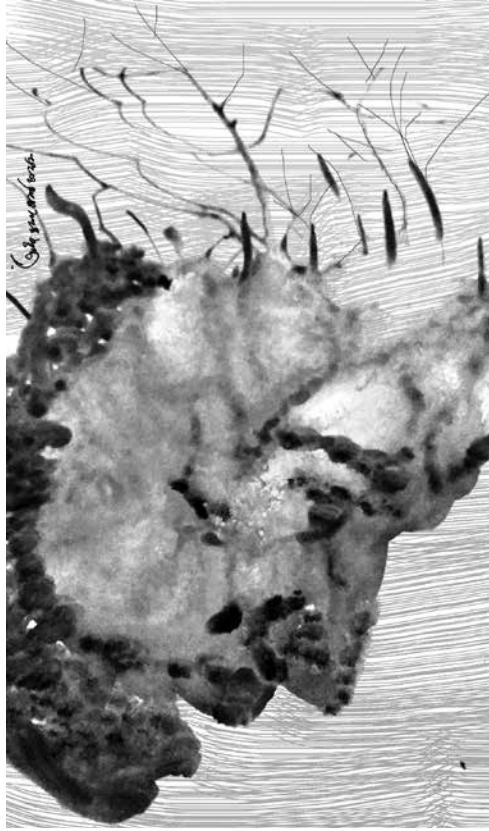
माथा सीधा कंक्रीट के छज्जे से जा टकराया।

ठक्कSS.. की जोरदार आवाज़ के साथ ही मुझे अपनी ग़लती का एहसास हुआ और डर के मारे मेरा कलेजा मुँह को आ गया। वह जोर-जोर से रोने लगा था। यह समझकर कि बच्चे का माथा बुरी तरह से फट गया होगा, मेरे हाथ-पैर सुन्न पड़ गए थे। पास ही मौजूद उसके माँ-बाप

और करुणा का भी, डर और आशंका की वजह से शायद मुझसे भी बुरा हाल हो रहा था लेकिन अगले दस मिनट में ही, हमारी तमाम आशंकाओं के विपरीत, किसी दैवी चमत्कार की तरह उसका रोना बन्द हो गया और वह पहले की तरह ही लगभग नॉर्मल दिखने लगा लेकिन ज्यों ही मैं उसे गोद में उठाने के लिए उसकी तरफ़ बढ़ा, वह सतर्क होकर पीछे हट गया। उसने चेतावनी दी, “नो, नो फूचाजी! नो, नो!!”

इसके बाद प्रायः एक सप्ताह तक उसने मुझे अपने आस-पास भी फटकने नहीं दिया। मैं जब भी किसी बहाने उसके पास जाने की चेष्टा करता, वह दूर हट जाता और कहता, “नो, नो फूचाजी! नो, नो!” इस मामले में वह किसी की सुनने के लिए तैयार नहीं था। कई बार तो करुणा ने भी हम दोनों के बीच संधि कराने की असफल कोशिश की। मेरे ससुरजी, सासु माँ, साले साहब और मेरी सलहज, यानी कि मेरु की माँ ने भी कई दफ़ा समझा-बुझाकर उसे मेरे पास भेजने की कोशिश की, “बेटा, फूचाजी के पास जाओ!” लेकिन उसका साफ़ जवाब होता, “नो, नो फूचाजी! नो, नो!”

सप्ताह भर बाद एक दिन सुबह मैं बैठक में गया तो देखा मेरु फ़र्श पर अपने तरह-तरह के खिलौनों से घिरा खेल रहा है। मैं उससे थोड़ी दूर सोफ़े पर बैठ गया और मोबाइल पर अपने मैसेज और मेल चेक करने लगा। कुछ देर बाद मैंने कनखियों से देखा, वह मेरे बिलकुल पास आकर खड़ा है और मुग्ध भाव से मेरे हाथ के मोबाइल स्क्रीन को देख रहा है। मैं उससे अनजान बना रहकर चुपचाप अपना काम करता रहा।



सम्पर्क : मो. 9831198760, ई-मेल : kumarvishwabandhu@gmail.com

थोड़े समय बाद वह सोफे पर आ गया और मेरी बगल में मुझसे सटकर बैठ गया। वह चकित दृष्टि से एकटक मेरे मोबाइल पर नज़रें गड़ाए बैठा हुआ था। मैंने हल्के से उसकी तरफ देखा तो वह भी मुस्कराया। मन तो बहुत हो रहा था, पर उस दिन मैंने उसे छूने या गोद में लेने की ज़रा भी कोशिश नहीं की।

उस रोज़ के बाद वह मेरे साथ थोड़ा सहज हो गया। गोद में तो ख़ैर नहीं आया और न ही खुद मैंने इसके लिए पहल की, लेकिन अब वह मेरे साथ बाहर गार्डन में हाथ पकड़कर घूमने जाने लगा। मुझे देखते ही मुस्कराता, कहता, “फूचाजीSS!”

मेरी पत्नी करुणा के लिए उसे बुआ कहना सिखाया गया था और वह कहने भी लगा था। एक दिन मैं यों ही कह गया, “मेरु आंटी के साथ घूमने जाएगा?” करुणा ने सुना तो बोली, आंटी नहीं, बुआ!” इस पर उसने कौतुक से उसकी तरफ देखा, मुस्कराया, बोला “आंटीSS!” घर के सब लोग हँस पड़े। वह भी हँसने लगा। उस रोज़ के बाद करुणा उसे कितना ही सिखाती, “मेरु, बुआ बोलो!” वह कहता, “आंटीSS!”

फिर तो ‘आंटी’ शब्द जैसे हम दोनों के बीच मज़ाक़ का एक विषय ही बन गया। वह मुझे देखते ही ख़ास अंदाज़ में अपना सिर हिलाता और नाटकीय ढंग से अपनी आवाज़ को भरसक गाढ़ा बनाते हुए कहता, “आंटीSSS..!” और हँसने लगता।

अपनी उम्र के लिहाज़ से दूसरे बच्चों के मुकाबले वह बोलता ज़रा कम था। इस बात को लेकर घर में सबको ही थोड़ी चिन्ता रहती थी। इस कमी को दूर करने की पूरे घर में जैसे मुहिम-सी चली हुई थी। मौक़ा निकालकर हर कोई उससे कुछ-न-कुछ बुलवाने की कोशिश करता रहता था। कोई उसको पोएम रटाने की कोशिश करता तो कोई घर के सभी लोगों के नाम ही उससे बार-बार बोलकर दोहराने के लिए कहता। कभी किसी दिन कोई मेहमान घर आ जाता, तब तो उस बेचारे की शामत ही आ जाती थी। चारों तरफ़ से तरह-तरह की फ़रमाइशें होने लगतीं। “मेरु, अंकल को नमस्ते बोलो!” “मेरु, आंटी को गुड ईवनिंग बोलो!” “मेरु, एक पोएम सुनाओ!” “मेरु, अपना नाम बताओ!” “मेरु...! कभी-कभार वह इन फ़िज़ूल की क़वायदों के खिलाफ़ मोर्चा ठानकर कम्प्लीटली चुप्पी साध लेता था। आख़िर जब वह कुछ भी नहीं कहता था तो घरवाले खिसियाकर हँसते, “हैं..हैं! हैं..हैं! इसे सबकुछ आता है, लेकिन नए लोगों के सामने ज़रा शर्माता है! हैं..हैं! हैं..हैं! बदमाश!!”

समूचे घर में एक दादी ही थी, जिस पर मेरु हुकूमत करता था। अपनी माँ के पास जो कुछ पढ़ता था, आकर दादी को पढ़ाता था। दादी के कमरे में जाते ही उसके तेवर बदल जाते। वहाँ की हर वस्तु पर वह अपना मालिकाना हक़ समझता था। दादी का पलंग, मतलब उसका पलंग। दादी का चश्मा, मतलब उसका चश्मा। विशेषकर दादी के मोबाइल फ़ोन को वह अपना पर्सनल फ़ोन समझकर उठा लाता था।

कभी-कभी दादाजी का फ़ोन भी पास ही पड़ा रहता, लेकिन वह उसकी तरफ़ देखता तक नहीं था। दरअसल दादाजी को खुद फ़ोन पर चैटिंग-सैटिंग का चस्का था। मेरु उन्हें परेशान न करे, इसके लिए वे ज़रा रिज़र्व रुख़ अख़्तियार किए रहते थे। मेरु भी कभी उनके फ़ोन को या उनकी दूसरी किसी चीज़ को छूता नहीं था।

जबकि दादी के साथ मेरु वही व्यवहार आजमाने की कोशिश करता था, जो घर के बाक़ी लोग उसके प्रति करते थे। वह प्रायः अपनी चॉकलेट और चिप्स वगैरह का थोड़ा हिस्सा दादी को भी खाने के लिए

देता था पर वह दादी की किसी भी बात को नहीं मानता था। उल्टे उसे दिखा-दिखाकर वही काम करता, जिसके लिए वह उसे मना करती। नवम्बर का महीना था, मौसम में हल्की ठंडक आ गई थी। दादी ने ठंड से बचाव के लिए उसे मोझे पहना दिए, कहा “ इसे उतारना मत बेटा, नहीं तो ठंड लग जाएगी।” कुछ पल बाद ही मेरु चिल्लाया, “दादी! दादी!” और फिर उसने दादी को दिखा-दिखाकर मोझे उतारकर फेंक दिए।

दादी उसे ज़मीन पर गिरा हुआ कुछ भी न खाने की सीख देती लेकिन उसकी सीख के उलट वह खुद ही जान-बूझकर खाने की चीज़ें फ़र्श पर गिरा देता और दादी को दिखाकर उन्हें उठाकर खाता था। दूसरी तरफ़ दादी को उसकी हर बात माननी होती थी। अगर उसकी किसी फ़रमाइश के लिए बेचारी कभी ना-नुक़र करती, तो वह फ़ौरन उसे पीटने के लिए भी तैयार हो जाता था।

हम आदतन बच्चों को कम आँकते हैं और ‘बच्चा’ कहकर उनकी सहज क्षमताओं और नैसर्गिक विभूतियों से अपनी आँखें मूँदे रहते हैं। मैं अनुभव कर रहा था कि बच्चे उतना ही नहीं जानते, जितना कि उन्हें बताया जाता है और न उतना ही कुछ सीखते हैं, जितना कि उन्हें सिखाया जाता है। इसके विपरीत अपने तौर पर वे स्वयं अपने परिवेश का निरीक्षण, विश्लेषण, आकलन और पुनर्निर्माण करते रहते हैं। बच्चे स्वभाव से ही स्वतन्त्र, आमोदप्रिय और रचनात्मक होते हैं। दुर्भाग्यवश पालन-पोषण और शिक्षा के नाम पर, जो कुछ और प्रायः जिस बर्बर तरीके से उनके ऊपर थोपा जाता है, वह और कुछ नहीं, बल्कि किसी बहती नदी की धारा को गन्दे और बदबूदार गढ़े में बदलने जैसा है।

आर्थिक रूप से कमज़ोर निम्नवर्गीय परिवारों में बच्चों की हैसियत आमतौर पर मोहल्ले की आवारा बिल्लियों जैसी होती है, जबकि आर्थिक रूप से सम्पन्न परिवारों में घर के पालतू पक्षियों जैसी। मध्यवर्गीय परिवार में हर माँ एक शिकायत ज़रूर करती है, “मेरा बच्चा ठीक से खाना नहीं खाता जी!” जो ज़िन्दा है, उसे भूख लगेगी ही। जिसे भूख लगेगी, वह खाना खाएगा ही। तो फिर “बच्चा ठीक से खाना नहीं खाता जी!” का क्या मतलब हुआ ? मतलब यह हुआ कि बच्चा खाना तो खाता है, मगर उतना नहीं खाता, जितना उसकी माँ समझती है कि उसे खाना चाहिए। बच्चा पढ़ता तो है, लेकिन उतना नहीं पढ़ता जितना उसकी माँ समझती है कि उसे पढ़ना चाहिए लेकिन बच्चा उससे कहीं ज़्यादा खेलता है, जितना उसकी माँ समझती है कि उसे खेलना चाहिए!

अपनी ज़िन्दगी के ऐसे ढेरों अनचाहे झमेलों और आए दिन की झंझटों से हर बच्चा अपने तरीके से निबटता है। मेरु के पास भी अपना मैकेनिज़्म था। वह माँ के हाथ से खाने के दो कौर जल्दी-जल्दी अपने मुँह में लेकर, पान की दो गिलौरियों की तरह देर तक अपने गालों में रखे रहता था। न चबाता था, न निगलता था। इस वजह से उसके दोनों गाल फुक्का की तरह फूल जाते। खाना खाने-खिलाने की इस कसरत के दौरान, वह जो कुछ चाहता, उसे फ़ौरन पूरा किया जाता। वह अपने खिलौनों के साथ मजे से खेलता रहता, माँ के मोबाइल पर मनचाहा कार्टून शो भी देखता और कहीं डेढ़-दो घंटे में उसका खाना पूरा होता।

एक रविवार की शाम को छत पर घरेलू पिकनिक का प्रोग्राम बना। तय हुआ कि घर की महिलाओं की उस दिन रसोई के काम से पूर्णतः छुट्टी रहेगी। खाना पकाने की सारी ज़िम्मेदारी पुरुषों की होगी। मेरु हमारी टीम का सबसे नन्हा पुरुष सदस्य था पर उसके उत्साह और

पृष्ठ 35 पर जारी...

मारेंगे सोनू उर्फ आत्मकथ्य सोनू

ममता शर्मा



मैं आज इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि दुनिया में दो ही तरह के लोग हैं एक जो मारते हैं और दूसरे जो मार खाते हैं। आप दुनिया के तमाम लोगों को इन्हीं दो खाँचों में भर सकते हैं। जब मैं ये दो शब्द इस्तेमाल कहता हूँ 'मारना' और 'मार खाना' तो मेरा मकसद सिर्फ़ प्रत्यक्ष मार से नहीं होता। मार शरीर पर हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। मार शब्दों की हो सकती है, मार नज़रों की हो सकती है और मार निशब्द भी हो सकती है। मैं आपको बताना चाहता हूँ कि पहली बार जब मैं इस शब्द से वाबस्ता हुआ तो मैं छोटा था। बहुत ही छोटा शायद मुझे अपनी उम्र तो याद नहीं मगर इतना याद है कि मैं बहुत-सी बातें समझता नहीं था और मैं उन बातों को चेहरों से जोड़ कर महसूस किया करता यानी जब-जब वे चेहरे दिखाई दिया करते, वे बातें याद आ जाया करतीं या जब-जब वे बातें सुनता तो वे चेहरे याद आते। 'मारेंगे सोनू' भी ऐसे ही शब्द थे जिनसे मैंने कुछ चेहरों को जोड़ लिया था। इनमें सबसे प्रमुख चेहरा माँ का था। ऐसा लगता कि यह शब्द माँ के मुँह के लिए ही बना हो जैसे। ऐसा याद आता है कि यह शब्द जब बिन्नी दी के मुँह से सुना था तो मुझे ऐसा लगा था जैसे बिन्नी दी माँ के अधिकार क्षेत्र में प्रवेश करने की कोशिश कर रही हैं। जाहिर है उस छोटी-सी उम्र में सोच इतनी साफ़ और पारदर्शी तो न थी मगर इतना तो याद है कि कुछ बदमिज़ाज-सा लगा था जब बिन्नी दी के मुँह से सुना था यह शब्द। बिन्नी हमारे ही मोहल्ले की थी और दोस्तों की मंडली में लीडर जैसी कुछ थी क्योंकि जब भी कहीं बच्चे मौजूद होते तो सबसे शुरू में और आखिर में वही बोल रही होती।

बहुत दिनों तक मेरी शब्दों की फ़ेहरिस्त में सारे शब्द एक जैसे थे उनमें नकारात्मक और सकारात्मक जैसा कोई भेद न था। सिर्फ़ दो ही अवस्थाएँ थीं- शब्द का होना और शब्द का अहोना मतलब न होना!! शब्द का होना मेरे लिए गति का पर्याय था और शब्द का न होना विराम का। मानीखेज़ बात जो मैंने महसूस की, यह थी कि मेरे लिए जो-जो शब्द इस्तेमाल किए जाते थे वे इतने ढीले-ढाले थे कि (मेरे लिए) अपना अर्थ खो चुके थे। वे शब्द चरित्र रहित थे। नहीं, दरअसल वे चरित्र रहित भी उतने नहीं थे जितने वे अस्थिर थे, पानी की तरह थे शब्द।

आइए लौटते हैं इसी शब्द पर 'मारेंगे सोनू'। मैंने माँ के व्यवहार पर काफ़ी गौर किया और इस नतीजे पर पहुँच गया था कि 'मारेंगे सोनू' एक बहुत ही सुरक्षित और ग़ैरहानिकारक वक्तव्य था। मैं इस नतीजे पर यूँ ही नहीं पहुँच गया था। इस पर मैंने काम किया था। यह शब्द जब

माँ के मुँह से निकलता तो मैं जिस भी काम को कर रहा होता (मेरे लिए तो वह काम ही होता जबकि औरों की नज़र में खेल!!) अपने हाथ वहीं रोक लिया करता या कहें मेरे हाथ ऐसे रुक जाया करते मानो मैं कोई मशीन होऊँ जो ध्वनि से चालित हो- उधर माँ के मुख से शब्द बाहर आए कि इधर मेरे हाथ रुके, फिर मैं माँ के चेहरे को देखता, उनके चेहरे के भावों को पढ़ता, जब मुझे सुरक्षा की पूरी तसल्ली हो जाती तो मैं इत्मीनान हो जाता। धीरे-धीरे मैंने देखा कि यह शब्द किसी पॉलिटिकल स्टेटमेंट से ज़्यादा कुछ नहीं है। यह सब तब तक ठीक ही चल रहा था जब तक मैंने सचमुच मार न खाई थी और मैं मार के इस अर्थ पक्ष से अनभिज्ञ था। कुछ ऐसा हुआ कि माँ ने उधर कहा कि मार खाएगा और इधर एक करारा तमाचा मेरे मुलायम गालों पर जड़ दिया। मेरे गाल तो गाल मेरा समूचा व्यक्तित्व झनझना उठा।

हुआ दरअसल यह कि माँ मुझे अकसर अपने साथ मार्केट लेकर जाया करती।

वैसे तो कहने को मैं माँ के साथ हुआ करता मगर असल में इस दौरान मैं कहीं नहीं हुआ करता। घर से मार्केट की उस यात्रा में माँ ढेर सारे काम किया करती। यात्रा के शुरू होने से आखिर तक उसे मानो यह पता ही न होता कि उसके साथ मैं हूँ। यहाँ थोड़ा विषयांतर करता हूँ और बताता हूँ कि यह सिर्फ़ उस यात्रा के दौरान ही नहीं होता था बहुत से अवसरों पर होता था कि मैं होता था मगर दरअसल मेरा होना तबतक अहोना बना रहता जबतक मैं किसी के मन या किसी स्थापित व्यवस्था के खिलाफ़ न कुछ कर दिया करता। बहरहाल आगे बढ़ते हैं तो उस घर और मार्केट की यात्रा में, उसे यानी माँ को यह तब ध्यान में आता कि मैं उसी के साथ हूँ, जब मैं कुछ अलग-सा कर दिया करता जिससे उसका ध्यान मेरी तरफ़ करता। इस अलग-सा में माँ का हाथ छोड़ देना, अपने लिए किसी वर्जित चीज़ का स्पर्श करना वगैरह-वगैरह शामिल था। ये यात्रा मेरे लिए ज्ञान बढ़ाने वाली यात्रा हुआ करती। गिरा हुआ आदमी, 'बदज़ात', बुरी नज़र, पेट में बच्चा जैसे शब्दों से मैं इन्हीं यात्राओं के दौरान वाकिफ़ हो पाया था। इन यात्राओं में माँ का हाथ छोड़ने की सख्त मनाही थी सो इस तरह यह जबरिया शब्द ज्ञान मेरे लिए सहज उपलब्ध था। ऐसी ही एक यात्रा के दौरान उन बातों से ऊब कर मैंने माँ को जोर-जोर से धक्का देना शुरू किया जिसके जवाब में माँ ने कहा, "मारेंगे सोनू" और मेरे गाल पर एक थप्पड़ मार दिया। मैं रोया नहीं मगर मेरी आँखों में वेदना की नमी आ गई।

सम्पर्क : मो. 9430734424, ई-मेल : mailtomamta.s@gmail.com

“अच्छा चलो फिर बात करेंगे। ये अभी रुकने ना देगा”, कहकर माँ ने वार्ता खत्म कर दी।

“जब दो लोग बातें करते हैं तो शान्ति से खड़े रहना चाहिए।”

माँ ने मुझे मुख़ातिब होकर कहा और मुझे पुचकार कर गोद में उठा लिया। मुझे उस दिन माँ बुरी लगी थी।

उस दिन के बाद मैंने इस वाक्यांश पर और ज़्यादा ध्यान देना शुरू कर दिया था। मैंने पाया कि यह एक अजीबोगरीब अवस्था थी। इन शब्दों का इस्तेमाल उन-उन बातों या घटनाओं के लिए हो रहा था जो मेरी नज़र में कोई खराब तो बिलकुल न थीं, उल्टे आनन्द देने वाली घटनाएँ थीं। उदाहरण के तौर पर जब मैं अपनी थोड़ी बड़ी बहन (जिसने स्कूल जाना प्रारम्भ ही किया था) की किताब पर पेंसिल से लकीरें खींच देता (जो मुझे बहुत अच्छा लगा करता) तो कोई भी कह दिया करता “मारेंगे सोनू”। फिर मैं जब ड्राइंग रूम में करीने से रखे हुए सोफ़े की कुर्सियों को घसीटते हुए एक किनारे से दूसरे किनारे ले जाता (‘जिसमें मुझे असीम आनन्द आता था’) तो कोई भी कह देता “मारेंगे सोनू”। जब मैं धूप में सुखाए जा रहे गेहूँ में अपने गीले हाथ डालकर गेहूँ को इधर से उधर करता (जो मैंने माँ से ही सीखा था और जिससे मुझे उँगलियों में गुदगुदी महसूस होती और मैं ऐसा बार-बार करना चाहता) तो माँ कहती “मारेंगे सोनू”। जब मैं गर्ग अंकल की दुकान से एक दिन में दूसरी बार चॉकलेट लेना चाहता तो हर कोई कह देता। ऐसे उदाहरणों की एक लम्बी फ़ेहरिस्त है मेरे पास।

इन बातों ने मुझे थोड़ा जिद्दी बना दिया था। मुझे यह लगा कि यह शब्द मेरे खिलाफ़ इस्तेमाल किया जा रहा है। मुझे तंग करने के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। कई दफ़े मैं इस उस काम को जारी रखने लगा जिसके लिए लोग ‘मारेंगे सोनू’ शब्द का इस्तेमाल कर रहे थे। मैंने यह भी महसूस किया कि मैं थोड़ा-थोड़ा बागी भी हो चला था मुझे लगने लग गया था कि मेरी हर पसन्द की बात पर लोग इस शब्द का इस्तेमाल कर रहे हैं। धीरे-धीरे ऐसा हुआ कि मैंने लोगों का वर्गीकरण शब्दों के आधार पर करना शुरू कर दिया। मैंने लोगों को शब्दों के आधार पर दो भागों में बाँट लिया था।

मुझे किन्नी दी और टीनू भाई बहुत अच्छी तरह याद हैं। उनकी आपस में दोस्ती थी, यह भी याद है। वे बहुत भले तरीक़े से बात किया करते। उनकी बातों से ऐसा एहसास होता कि यह जिसे लोग दुनिया कहते हैं, यह सुकून से भरी है। उनके इर्द-गिर्द खुशबू थी जिसमें गहरी साँस ली जा सकती थी उनके पास ‘मार’, ‘भूख’, ‘खाना’, ‘परेशान’,

‘स्कूल’ जैसे शब्द नहीं थे। ‘फूल’, ‘मुलायम’, ‘खुशबू’ जैसे शब्द उनकी दुनिया के शब्द लगा करते थे। वे कभी ऊँचा नहीं बोलते थे। वह सब कुछ मुझे अच्छा लगा करता और उनको देखकर मैंने दुनिया की एक बड़ी खूबसूरत तस्वीर अपने भीतर तैयार कर ली थी और भी जो बहुत ही अच्छी तरह याद था वह था ‘सीबी’ नाम का काला कुत्ता जिसके बारे में माँ कहा करती, “इसे रोटी ज़रूर खिलानी है” और “रोटी जूठी न हो” इस बात को हर बार दोहराती। गर्ग अंकल के घर के पिछवाड़े लगे अमरूद के पेड़ जिन पर बड़े-बड़े अमरूद होते और पककर नीचे गिर जाया करते। किराने की दुकान जहाँ बड़ी-बड़ी बोतलों में चॉकलेट रखी होती। ये सब मुझे किसी ने बताया न था। मेरा यह छोटा-सा संसार था जिसे मैंने अपने ऑब्ज़रवेशन से रच लिया था। मुझे वे बातें अच्छी लगा करतीं जिनके बारे में कोई बात नहीं कर रहा होता और जो मेरे मन की उपज होतीं।

मुझे वे बातें उदासीन कर दिया करतीं जिनके बारे में लोग कहा करते। मुझे लगा करता वे बहुत ज़्यादा बोल रहे हैं और अक्सर मैं अपने कान बन्द कर लिया करता।

लेकिन जो मैं ख़ास बात बताना चाहता हूँ वो यह है कि दरअसल ‘मारेंगे सोनू’ शब्द बहुत ही लापरवाही से इस्तेमाल किया जाता था मेरे लिए। जब यह शब्द इस्तेमाल किया जा रहा होता तो इस शब्द का कोई वजूद नहीं होता था। ठीक वैसे ही जैसे मेरा कोई वजूद (दूसरों की नज़र में) नहीं था। मुझे लगता है कि ‘मारेंगे सोनू’ कोई शब्द नहीं था। यह एक मन्त्र था उन सब लोगों के लिए जो बात-बेबात परेशान होते तो इन शब्दों का प्रयोग करते थे। मुझे लगता था कि वे शब्द मेरे लिए कम इस्तेमाल अपने लिए ज़्यादा करते थे। मसलन माँ अचानक ही कहीं से घर के अंदर दाखिल होती और मैं उससे कुछ भी माँग बैठता तो वह यही कहा करती, “मारेंगे सोनू”। सबसे कम इस शब्द का इस्तेमाल अगर किसी ने किया था तो वह थे बाबा। इसलिए बाबा अपनी उन तमाम बातों के बावजूद, जिन्हें माँ असल में नापसन्द किया करती (और मैं भी) मुझे दिल के बेहद करीब लगा करते थे।

फिर मेरे मन में एक फ़ेहरिस्त तैयार हो गई।

इस फ़ेहरिस्त में दो ही तरह के लोग थे—

एक जो बात-बात पर कहते फिरते मारेंगे

और दूसरे

जिनके मुँह से मैंने यह शब्द नहीं सुना!

□

फूचाजी

पृष्ठ 33 से आगे...

खुशी का कोई अंत नहीं था। वह शुरू से ही मेरे साथ लग गया था और मेरा असिस्टेंट बना हुआ था। मैं उबले हुए आलू छीलने बैठा तो चटाई पर वह भी मेरे पास बैठ गया। मैंने छीलने के लिए उसे भी एक आलू दे दिया। वह जैसे निहाल ही हो गया। खुशी के अतिरेक से उसका चेहरा जगमगाने लगा, बोला, “फूचाजीSSS!”

रात के दस-साढ़े दस बजे तक खाना बनकर तैयार हो गया। सब लोग साथ में खाने बैठे। मेरु की माँ उसे अपने साथ बिठाकर खिलाना चाहती थी। मैंने आग्रह किया कि उसे आज खुद ही खाने दिया जाए लेकिन उन्हें बिलकुल भरोसा नहीं था, बोलीं “जीजाजी, कुछ भी नहीं खा पाएगा ये तो!”

मैंने फिर भी आग्रह किया, “ठीक है थोड़ा कम ही खाएगा लेकिन

पिकनिक भी तो है। थोड़ा मज़ा इसे भी ले लेने दीजिए!”

उसे पंगत में मैंने अपनी बग़ल में बिठा लिया। सबकी तरह उसे भी पत्तल दिया गया, खाना भी परोसा गया। सबकी तरह, सबके साथ बैठकर खाने का आनन्द और रोमांच उसके अंग-प्रत्यंग से फूट-फूटकर निकल रहा था।

आत्म-स्वतन्त्रता किसे भली नहीं लगती? परिवार से लेकर सम्पूर्ण संसार में निज की विशेष सत्ता और व्यक्तित्व की स्वीकृति और सम्मान, किसे आनन्दित नहीं करता? मेरु छोटा-सा बच्चा ही सही, पर वह भी खुश था, रोमांचित था, गर्वित था। वह थोड़ी-थोड़ी देर बाद खाना छोड़कर मेरा मुँह देखने लगता और मुझे से नज़र मिलते ही खुशी से खिलकर जोर से चिल्ला उठता, “फूचाजीSSS!!”

□

हम अपनी पारी खेल चुके ईमानदारी से, कोई अफ़सोस नहीं

कथाकार **शेखर जोशी** का गत 4 अक्टूबर, 2022 को खराब स्वास्थ्य के कारण निधन हो गया। यह साक्षात्कार उनके निधन से कुछ माह पूर्व **नवीन जोशी** ने लिया था, जिसकी पहली कड़ी अक्टूबर, 2022 के अंक में प्रकाशित हुई थी। शेखरजी के प्रति भावभीनी श्रद्धांजलि के साथ प्रस्तुत है साक्षात्कार की अन्तिम कड़ी।



इलाहाबाद में 1957 में हुए लेखक सम्मेलन का क्या उद्देश्य था, कितनी भागीदारी थी, उसका क्या प्रभाव पड़ा?

दिसम्बर 1957 में तीन दिन का एक अखिल भारतीय अभूतपूर्व सम्मेलन हुआ था। इसका आयोजन इलाहाबाद के प्रगतिशील लेखकों ने किया और बनारस से आयोजन समिति में जुड़े नामवर सिंह और केदारनाथ सिंह। आमंत्रित लेखकों को सूचित कर दिया गया था कि हम आपके आवास की व्यवस्था नहीं कर पाएँगे। भोजन की व्यवस्था अवश्य हम करेंगे। बहुत बड़ी संख्या में लोग अपने खर्च पर अपने आवास की व्यवस्था करके, मित्रों के यहाँ, इधर-उधर सम्मिलित हुए थे। तब नए कवि के रूप में श्रीकान्त वर्मा, मुक्तिबोध के साथ आए थे। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह और बनारस से बहुत से नए विद्यार्थी और साहित्य में रुचि रखने वाले शामिल थे। सम्मेलन का उद्घाटन एनी बेसेण्ट हाल में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया था। उसके बाद संगीत समिति के विभिन्न कक्षों में विभिन्न विधाओं के रचनाकारों की बैठकें हुई थीं। जैसे, कहानी विधा पर गोष्ठी की सदारत यशपाल ने की थी। कवियों की गोष्ठी अलग हुई थी। नाटक वालों की गोष्ठी अलग हुई, आलोचना वालों की अलग। इसके प्रमुख सूत्रधार अमृत राय थे। उनमें बड़ी संगठन क्षमता थी और उनका साहित्यकारों के बीच में सम्मान था- उन्होंने ही तय किया कि किस-किस को आलेख भेजने के लिए लिखना है, निमंत्रण तो सभी को भेजा गया था। गोष्ठी का विषय था 'स्वाधीन भारत और साहित्यकार'। उसका परिपत्र भी अमृतजी ने ही ड्राफ़्ट किया था। आयोजन समिति में बारह लेखकों का उल्लेख था जिनमें प्रकाश चन्द्र गुप्त, भैरव प्रसाद गुप्त, अमृत राय, बनारस से नामवरजी, केदारनाथ सिंह, मार्कण्डेय,



अमरकान्त, कमलेश्वर, शेखर जोशी, एक-दो नाम भूल रहा हूँ। अश्वजी तब वहाँ नहीं थे, इतना मुझे याद है। हो सकता है कि शमशेरजी का नाम रहा हो, श्रीकृष्ण दास और श्रीपत राय का नाम रहा हो। इतना बढ़िया सम्मेलन हुआ था कि कोई चण्डीगढ़ से आ रहा है, कोई कहीं से, अपनी व्यवस्था करके। कुछ उसमें विनोद पक्ष भी रहा। जैसे, बाहर बातचीत के दौरान विद्यासागर नौटियाल ने कहा कि मैं यशपालजी से पूछूँगा कि आपने पर्वतीय नारी को लेकर इस तरह की (खराब धारणा वाली) कहानियाँ क्यों लिखीं लेकिन गोष्ठी में वे चुप रहे। उधर, संस्कृत के विद्वान वाचस्पति गैरोला, जिनका हिन्दी साहित्य से कोई लेना-देना नहीं था, अचानक उठ खड़े हुए और उन्होंने कहा कि अध्यक्ष महोदय, आपने पर्वतीय नारी की मान-मर्यादा के विरोध में कहानियाँ क्यों लिखीं? यशपालजी भौंचक्के रह गए। सवाल उठाने के बाद गैरोला जी वहाँ से गायब हो गए थे। तो, अध्यक्षीय भाषण में यशपालजी ने कहा कि एक सज्जन ने अभी मुझसे कुछ प्रश्न पूछा था, तो कुछ चीज़ें ऐसी हैं जो प्रत्यक्ष देखी हैं और मैंने उनका वर्णन कर दिया, वगैरह। एक चुटकुलेबाजी रही ग्राम-कथा को लेकर। शिवप्रसाद सिंह और मार्कण्डेय ग्राम-कथा वाले लोग थे। कुछ शहरी-कथा वाले लोग हो गए। तो, ग्राम-कथा बनाम शहरी-कथा की बात हो गई। तब कमलेश्वर ने कहा कि कस्बे की कथा भी है। वो मैनपुरी कस्बे के थे। तो, ये विनोद पक्ष रहा।

हमारी बड़ी उपलब्धि ये रही कि मुक्तिबोध जो शमशेरजी के यहाँ टिके हुए थे, हम सब नए लेखक रात में उनके पास पहुँचे और उनसे कविताएँ सुनाने के लिए कहा। तब उनकी 'अँधेरे में' कविता नहीं लिखी गई थी, शायद 'ब्रह्मराक्षस' सुनाई थी। उनका जो चित्र बीड़ी फूँकते हुए बहुत प्रकाशित होता है, वह प्रत्यक्ष देखा हमने। उनका कविता-पाठ

सम्पर्क : मो. 9793702888, ई-मेल : naveengjoshi@gmail.com

अपने-आप में इतना स्पष्ट था कि कहीं कोई समझने में अड़चन नहीं आई। नहीं तो पढ़ते हुए मुक्तिबोध को थोड़ी कठिनाई होती थी। अद्भुत था। मुझे जिम्मेदारी दी गई थी कि मैं कवि गोष्ठी का संचालन करूँ। मेरे लिए यह बड़ी समस्या थी, नया-नया साहित्य के क्षेत्र में आया था। तो, मैंने नागार्जुनजी, जो पटना में थे, उनको पत्र लिखा। नागार्जुन का तत्काल उत्तर आया कि अभी रात के बारह बजे हैं, मैं विद्यापति समारोह से लौटा हूँ। मैं आऊँगा, जरूर आऊँगा। वो आए और मैंने कवि गोष्ठी के संचालन का भार जो है उनको सौंप दिया। दुष्यन्त मुरादाबाद में थे, नहीं आ पाए। उन्होंने कहा था कि प्रयोगवादियों और गीतकारों को एक साथ मत मिलाना। तो, इस तरह से हम लोगों की भागीदारी रही और खूब आनन्द आया। जो बनारस से गुप आया था, विश्वनाथ त्रिपाठी, अक्षोभ्येश्वरी प्रताप, विजय मोहन, विद्यासागर नौटियाल, ये सब हम लोगों के समकालीन थे, तो खूब हँसी-मज़ाक, साहित्यिक चर्चा होती थी। कोशिश ये रही कि जो आलेख आए हैं उनका भी प्रकाशन किया जाए लेकिन फिर सम्भव नहीं हुआ। नन्ददुलारे बाजपेयी सागर यूनिवर्सिटी में हेड ऑफ़ डिपार्टमेंट थे। वे आ नहीं पाए लेकिन सागर से यूनिवर्सिटी के छात्र और 'समवेत' पत्रिका के युवा सम्पादक अशोक वाजपेयी आए थे। वे बहुत प्रसन्न हुए थे कि उनको बुलाया गया। तो, वह एक ऐतिहासिक सम्मेलन था। प्रगतिशीलों के इस आयोजन में परिमल वालों ने भी पूरी तरह से सहयोग दिया और भाग लिया था।

आपकी पहली कहानी कौन-सी थी और कब लिखी गई? आखिरी कहानी कब और कौन-सी लिखी थी? क्या अब कहानियाँ लिखने का मन नहीं करता? हाल के वर्षों में कविताएँ ही लिखने का क्या कारण है?

मेरी पहली कहानी 'राजे खत्म हो गए' 1952 या 53 में लिखी गई जो 'समास' पत्रिका में दिल्ली से प्रकाशित हुई थी, 1955 में। दूसरे विश्व युद्ध में हमारे पहाड़ों से हजारों युवा फ़ौज में चले गए थे। एक बार जब मेरी उम्र ज्यादा-से-ज्यादा दस साल रही होगी, हमको अल्मोड़ा जाना था। अल्मोड़ा पैदल रास्ते से सोलह मील होता था और हवलबाग तक मोटर रोड से ही जाना होता था। तो हम चले पैदल। जहाँ-जहाँ बस्ती थी, देखा कि फ़ौजी जवान अपनी चुस्त वर्दी में खड़े हुए हैं, गाड़ी की प्रतीक्षा में। और, उनको विदा देने के लिए उनके परिवार की बहुत-सी महिलाएँ भी वहाँ थीं। उनमें माएँ होंगी, बहनें होंगी, भाभियाँ होंगी, किसी-किसी की पत्नी भी होगी। जैसे ही गाड़ी आती, फ़ौजी चट से गाड़ी के अंदर बैठ जाता और जैसे ही गाड़ी चलती थी, जो रुलाई फूटती थी, इतनी दर्दनाक कि मेरे बाल मन में वह अमिट रह गई। और, ये एक जगह नहीं हुआ। हवलबाग तक कई जगह इस तरह के दृश्य देखे। तो, उस कहानी में मैंने एक चरित्र बुढ़िया का लिया था जो अपने बेटे का इंतज़ार कर रही है। वह इस भ्रम में है कि बेटा ज़िन्दा है और आएगा लेकिन बेटा पता नहीं कब शहीद हो चुका है। गाँव में एक मन्त्री जी आए हुए हैं। उन्होंने दही खाने की इच्छा व्यक्त की। लोग दही लेने के लिए बुढ़िया के पास पहुँचे। बुढ़िया ने बड़ी खुशी से दही की हाँडी उनको पकड़ाई और कहा—मन्त्री आए हैं ना, कभी राजे भी आएँगे। और हाँ, मेरा राजा भी आएगा। जो नैरेटर है उसमें वो कहता है कि मैंने (बुढ़िया से) कहा नहीं लेकिन राजे खत्म हो गए हैं। एक तरह से यह कहानी मेरी प्रसिद्ध कहानी 'कोसी का घटवार' का बीज है।

और, मेरी कहानी जो अंतिम है, मुझे जहाँ तक ख्याल है 'वागर्थ' में प्रकाशित हुई थी, वो थी 'छोटे शहर के बड़े लोग'। ये छोटा शहर मेरे दिमाग में भवाली था। वह विनोदपूर्ण ढंग से कही हुई कहानी है, जिसमें एक मछली वाला है, एक मूँगफली वाला है। मछली वाले के टाट से पानी बहकर मूँगफली वाले के बोरे में जाता है। एक दिन मूँगफली वाला मछली वाले की सीट को तोड़-फोड़ देता है। अब बड़ी सनसनी हो जाती है, क्योंकि मछली वाला बड़े नशेड़ी क्रिस्म का आदमी और मुसलमान है। और, ये हिन्दू है। एक महिला है जो मंथरा की तरह से सब घरों में जाकर कहती है— हो गया, वहाँ भी हो गया, अयोध्या हो गया वहाँ ! मुसलमानों ने रामपुर फ़ोन कर दिया है। वहाँ से गुंडे आ रहे हैं। किस सन् में लिखी थी याद नहीं। तो, तनाव हो गया है क्रस्वे में। मुसलमान हाजी की दुकान में जमा हो जाते हैं। वह (मछली वाला) जब आता है तो देखता है और समझ जाता है कि किसकी कारस्तानी है। तभी हाजी जी जोर से कहते हैं, "अरे किसी ने गाड़ी का नम्बर नोट किया या नहीं किया? ये साले टिंचरी पीकर गाड़ी चलाते हैं और बैंक करने में तोड़ दिया इसका।" सुनकर लोग मुस्कुरा रहे हैं और वह समझ रहा है कि यह सब मनगढ़ंत है, मामला दूसरा है लेकिन वह कुछ कर नहीं पाता। तो, ये थे उस छोटे क्रस्वे के बड़े लोग !

अब कहानियाँ लिखने में दिक्कत ये है न, कि वाक्य-विन्यास लम्बा होता है और आपको दोबारा उसको देखना पड़ता है। दिमाग में आती तो हैं कहानियाँ लेकिन उसको सहज ढंग से लिख नहीं पाता हूँ। कविता में ऐसा है कि छोटे-छोटे वाक्य होते हैं और एक लय होती है। और, अभ्यास है थोड़ा-बहुत।

साठ-पैंसठ साल बाद भी आपकी कहानियाँ खूब पढ़ी और याद की जाती हैं। 'दाज्यू', 'कोसी का घटवार', 'बदबू' जैसी कहानियाँ बार-बार उद्धृत होती हैं। कम लिखने के बावजूद यह विरल उपलब्धि है। इसकी क्या वजह है?

वजह, तो ये हो सकती है कि मैंने बहुत ध्यान से साहित्यिक कृतियों का अध्ययन किया है, देसी-विदेशी रचनाकारों के शिल्प के बारे में और कथ्य के बारे में। दूसरी सबसे बड़ी बात कि मेरा एक वैचारिक आधार रहा है। कमर्शियल राइटिंग करके पैसा कमाने की प्रवृत्ति मेरी नहीं रही। मैं लघु पत्रिकाओं का लेखक रहा हूँ। और, एक चीज़ है कि परकाया प्रवेश में कुछ दक्षता मुझमें रही है। दूसरे के मन को पढ़ने में मैं समझता हूँ कि कुछ योग्यता है। और, बचपन से ही बहुत दुखी परिवेश में जीवन बीता, कम उम्र में मातृविहीन हो गया, अपने आत्मीय परिवेश से विस्थापन करने को विवश हुआ। इससे सम्बेदनशीलता गहरी हुई। जो भी मैंने लिखा है वह किसी उद्देश्य को लेकर लिखा है। मन में ये भी था कि समाज में किस तरीके से परिवर्तन हो। और तो मैं कुछ नहीं कर सकता, लिखकर ही सामाजिक स्थितियों की विवेचना कर सकता हूँ। लोगों को मेरी कहानियाँ सार्थक लगी हैं तो ये मेरे लिए सौभाग्य की बात है।

नए कहानीकारों को पढ़ पाते हैं आप? भाषा-शैली ही नहीं, शिल्प भी अब बहुत बदल गया है। नए-नए प्रयोग हो रहे हैं?

मेरे पास बहुत-सी पत्रिकाएँ कम्प्यूटरी रूप में आती थीं। बाकी को मैं खरीदकर पढ़ता था। मुझे हमेशा नए से नए लेखक के बारे में जानने की बहुत उत्सुकता रहती थी। एक दौर तो ऐसा था जब लखनऊ

से शिव वर्मा के सम्पादन में 'नया पथ' प्रकाशित होता था, तब उनके आदेश पर मैं 'गत मास का साहित्य' नाम से कॉलम लिखा करता था। उसके लिए भी मैं बहुत-सी कहानियों, पत्रिकाओं को पढ़कर उनकी अच्छी रचनाओं की चर्चा करता था। कभी-कभी मैं उसमें अपनी भी तारीफ़ कर लेता हूँगा। मैंने शिवदा से कहा था कि ये किसी को मालूम नहीं होना चाहिए कि मैं ये कॉलम लिखता हूँ। उसे मैं 'सौम्य दृष्टि' नाम से लिखता था। मुझे लगता है, शिवदा ने यशपाल जी को बता रखा होगा क्योंकि एक बार यशपालजी ने एक स्थानीय लेखक की 'किताब' की मुझसे बार-बार प्रशंसा की। मैं समझ गया कि यशपालजी मुझसे उस कहानी का उल्लेख करवा चाहते हैं। अब एक तो पत्रिकाएँ कम उपलब्ध होती हैं, दूसरा मेरी आँखों की रौशनी बहुत साथ नहीं देती। मैग्नीफ़ाइंग लेंस से जिनको जरूरी समझता हूँ, पढ़ लेता हूँ। तो, उत्सुकता बनी रहती है कि आखिर क्या नया लिखा जा रहा है। अकेलापन भी हो गया है। ऐसे साथी भी नहीं हैं कि जिनसे नए साहित्य के बारे में चर्चा की जा सके।

आपकी पीढ़ी के, बल्कि आपके साथ के बहुत ही कम रचनाकार अब सक्रिय हैं। किनसे बातचीत हो जाती है? इलाहाबाद कितना याद आता है और पुराने साथी ?

दुर्भाग्य से मेरी उम्र के अधिकांश लोग अब इस दुनिया में नहीं हैं। जो थोड़े-से लोग बचे हैं, जैसे विश्वनाथ त्रिपाठी। बहुत कम साथी ऐसे हैं जिनसे मैं बात कर सकूँ। ये भी है कि बात करने के लिए समकालीन साहित्य के सम्बन्ध में उसका अध्ययन पूरी तरह से हो जो कि अब नेत्र विकार के कारण सम्भव नहीं है। जो लोग बाद की पीढ़ी के हैं, जैसे कवि हरिश्चन्द्र पाण्डे, संतोष चतुर्वेदी, आप हैं, तो उनसे कुछ साहित्यिक चर्चाएँ हो जाती हैं। मैं जानने की कोशिश करता हूँ कि क्या नया लिखा जा रहा है, क्या पढ़ा जा रहा है। अब ये है कि हम अपनी पारी खेल चुके। कोई अफ़सोस नहीं। जो कुछ भी हमने किया, ईमानदारी से किया। किसी तरह की महत्वाकांक्षा नहीं रखी, बल्कि एक मिशन के रूप में उस काम को अंजाम दिया।

बहुत याद आते हैं कुछ लोग। मार्कण्डेय का एक चुम्बकीय व्यक्तित्व था। वो मुझ पर बहुत भरोसा करते थे। सपने में वो बहुत आते हैं। अमरकान्त के साथ बिल्कुल पारिवारिक सम्बन्ध थे। इलाहाबाद शहर, जहाँ मैं पचास साल रहा हूँ, वो सपनों में बहुत आता है। खास तौर से 100- लूकरगंज, जो 'टंडन का हाता' कहलाता था। उस हाते के बीच में एक पुराना बाँगला था। उसके आधे हिस्से में मकान-मालिक रहते थे और आधे में मैं रहता था। और, तीन तरफ़ छोटे-छोटे क्वार्टर बने हुए थे, निम्न मध्यमवर्गीय लोगों के लिए। वहाँ बड़ी पारिवारिकता थी। सब याद आता है। इधर मैंने एक लम्बी कविता लिखी है 100-लूकरगंज की स्मृति में। प्रतीक रूप में मैंने पहाड़ी गाँवों की 'बाखई' (मकानों की लम्बी क़तार) को लिया है। 'बाखई' में इतना खुलापन, इतनी सहकारिता, सहभागिता, सुख-दुख का साझापन रहता है। 'बाखई वाला गाँव' कविता वास्तव में 100-लूकरगंज की ही प्रतीक है।

आप सुबह से शाम तक की कारख़ाने की नौकरी को लेखन के लिए बाधा मानते थे लेकिन क्या वही आपकी एक बड़ी रचनात्मक पूँजी नहीं बनी ?

हाँ, इस नौकरी में मुझे बहुत रचनात्मकता मिली। हर दिन नया कुछ सृजित करना। जो हम लोगों ने दक्षता हासिल की थी ऑटोमोबाइल इंजीनियरिंग की, उसका अध्याय सन् 62 की लड़ाई के बाद ख़त्म हो

गया था। चीन के साथ मुठभेड़ में हमारे जो रिवर्सेज हुए, उसकी जब इंकवायरी हुई, तो पाया गया कि हमारी विदेशी गाड़ियों की फ़्लोट, जिनके कल-पुर्जे अब दुर्लभ थे, की कमजोरी भी इसकी वजह थी। तो, रातों-रात तय हुआ कि अब वहिकल रिपेयर नहीं होंगे। स्वदेशी गाड़ियाँ ख़रीदी जाएँगी और उस पर अपनी सेना की रिक्वायरमेंट के हिसाब से बॉडी बिल्ड की जाएगी। तो, रिपेयर वर्कशॉप को हम लोगों ने प्रॉडक्शन यूनिट में बदला और वो इतना प्रेरक था। नई मशीनें मँगाई गईं, लगाई गईं और वर्कर्स, जवानों को एक प्राइवेट कम्पनी में ट्रेनिंग के लिए भेजा गया। वो वहाँ से सीख के आए, बड़ी-बड़ी मशीनें, जिनमें 810 की बड़ी-बड़ी चादरें, दस गेज की, बारह गेज की, चौदह गेज की, कटती हैं, उनको कैसे ऑपरेट करना है, ब्रेक प्रेस है, पावर प्रेस है, बेंडिंग कैसे करनी है। ये कमाल लोगों का था कि जो लोग बढ़ई थे, इलेक्ट्रीशियन थे, फ़िटर थे, वो लोग भी इन मशीनों पर काम करने लगे और एक भी एक्सीडेंट नहीं हुआ। अलग-अलग गाड़ियों की चेसिस बनती थी, बॉडी बनती थी, ऐसे कि आप उनको खोल के फिर जोड़ सकें, फ़ोल्डिंग करके। तो, इतनी सृजनात्मक थी, हर चीज़, कि देख के तबीयत प्रसन्न हो जाती थी। ये ज़रूर है कि पढ़ने-लिखने के लिए समय नहीं मिला लेकिन काम में ताज़गी रही। ट्रेनिंग के दौरान प्राप्त मैकेनिकल ड्राइंग की शिक्षा अब काम आई। ऊपर से प्राप्त ड्राइंग का खुलासा करके मैं प्रोटोटाइप बनवाता था। तब प्रॉडक्शन शुरू होता था। दूसरी बात मैंने जिन लोगों के साथ मैकेनिक के रूप में काम किया था, उस पीढ़ी से आत्मीय सम्बन्ध थे। उसके बाद जो नई पीढ़ी आई, अपने बच्चों की तरह से हमने उनकी रुचियों के हिसाब से, उनके मित्रों के ग्रुप के हिसाब से उनकी प्लेसिंग की। तो, वो बहुत आदर देते थे। ऐसे-ऐसे काम किए गए और ऐसी उपलब्धियाँ रहीं कि बयान नहीं किया जा सकता। ये बड़ा सृजनात्मक सुख था।

मेरी एक कहानी है 'गलता लोहा', कुछ लोग इसे डी-क्लास होने की कहानी समझते हैं लेकिन मेरी दृष्टि में यह कहानी उस सृजन सुख की है जो एक चित्रकार को अपनी कलाकृति की पूर्णता पर और एक शिल्पकार को अपने शिल्प की पूर्णता पर मिलता है। वो ब्राह्मण पुत्र जो है, वो अपने रिश्तेदार के साथ पढ़ाई करने के लिए गया था लेकिन रिश्तेदारों ने उसे आईटीआई में काम सीखने भेज दिया। तो, उसने लोहारी काम भी सीखा। जब वो गाँव आया तो उसके पिता ने कुछ औज़ार उसे लोहार के यहाँ तेज़ करवाने के लिए दिए। तो, वो लोहार को काम करते हुए देखता रहा। लोहार एक सरिया को मोड़कर गोल छल्ले का रूप देने की कोशिश कर रहा था लेकिन वो सफल नहीं हो रहा था। इसने उसको हटा के अपने हाथ में औज़ार लेकर उसको कर दिया। ये लोहार के लिए बड़ी एम्बेरेसिंग पोजीशन थी कि एक ब्राह्मण उसके साथ काम कर रहा है लेकिन ब्राह्मण को जातिवाद की चिन्ता की बजाय एक सृजनात्मक सुख मिल रहा था। ख़ैर, अंततः मैंने समय से आठ साल पहले लिखने-पढ़ने के लिए ही रिटायरमेंट लिया लेकिन मैं उस वर्कशॉप के वातावरण को, उसकी आत्मीयता को कभी नहीं भूल पाया। नॉर्मल होने में मुझे समय लगा लेकिन मुझे आराम मिला और जो लिखना-पढ़ना छूट गया था, वह हुआ। संगठन (जनवादी लेखक संघ) में पदाधिकारी होने के कारण मुझे घूमने को भी मिला। दूसरे लेखकों से भी सम्पर्क साधने का मौका मिला, लिखने के लिए प्रेरणा मिली और बहुत-कुछ लिखा भी। □

तुमसे मिलकर उदास रहता हूँ

राजेन्द्र दानी



‘ज्ञानरंजनजी पर लिख दीजिए’..... यह अक्सर मुझसे कहा जाता है और यह सुनते ही मुझे एक अजीब-सी बेबसी महसूस होती है। मैं लगभग पैंतालीस वर्षों से ज्ञानरंजनजी के बहुत करीब हूँ अक्सर यह बात इस आग्रह के पीछे की वजह होती है। दरअसल यह आग्रह सिर्फ मेरे पास ही नहीं आता, बहुतों के पास पहुँचता है। यह क्यों होता है, बेहद विचारणीय है। इस पर बहुत-से लोग विचार करते हैं, लम्बे समय तक करते हैं, पर पस्त हो जाते हैं। वादाखिलाफी का आरोप उन पर लगता है। यह मेरे साथ भी हो चुका है। यह बार-बार होने नहीं दिया जा सकता। फिर दूसरी ओर मैं एक उम्रदराज व्यक्ति हूँ। अपने दायित्व से मुकरना या भागना सम्भव अब तो हो नहीं सकता, लोगों के भरोसे को तोड़ना भी अच्छा नहीं लगता। अल्पज्ञ ही सही, पर लिखना है।

लोग संस्मरण लिखते हैं और अक्सर चूक करते हैं, तथ्यों को मनोवांछित तरीके से परोस देते हैं। इससे सच्चाई बिगड़ती है और रूपाकार खंडित होता है। यह दुस्साहस है और पलायन भी है। इससे तो बेहतर है कि लिखा ही न जाए।

ज्ञानरंजनजी अक्सर इसके लिए ही प्रेरित करते हैं। यह अजीब लग सकता है। आज के समय में यह और अजीब हो जाता है जब बहुतेरा नया लेखक समाज यह कर-करके नहीं उकताता।

दरअसल दूरी कशिश पैदा करती है। वह मेरे साथ है नहीं। मैंने अनुभव किया है ज्ञानजी से जो दूर हैं वे उन पर बेहतर लिख पाते हैं। उन्होंने बहुत अच्छा लिखा है और वह प्रकाश में आ चुका है।

किसी की विचार सरणी में, किसी की भावनाओं में, किसी के गहरे अंतःकरण में जा सकना लगभग असम्भव-सा है, दूसरे सन्दर्भ में यही कि ‘इक आग का दरिया है और डूब के जाना है’। अब कोई बताए कि

इस जटिलतम स्थिति का कोई निदान है? वैसे तो व्यक्तियों ने शहादत की बिनाह पर बहुत सारे काम किए हैं और करते रहे हैं पर शहादत के लिए जिस हौसले की, जिस जुनून की उम्मीद हम किया करते हैं वह बाज़दफ़ा मिलती नहीं है।

अगर कभी कोई खोज करने की कोशिश भी करे तो असफलता उसका स्वागत करती नज़र आती है। किसी पर सतह पर मँडराते हुए लिख देना न तो सम्भव है, न होगा। ज्ञानजी के डील-डौल पर, उनकी, बाहरी आकृति पर लिख देना बेहद आसान है। ऊपरी तौर पर वे इतने सहज हैं, उपलब्ध हैं कि उनकी जटिलता का सुराग नहीं मिलता।

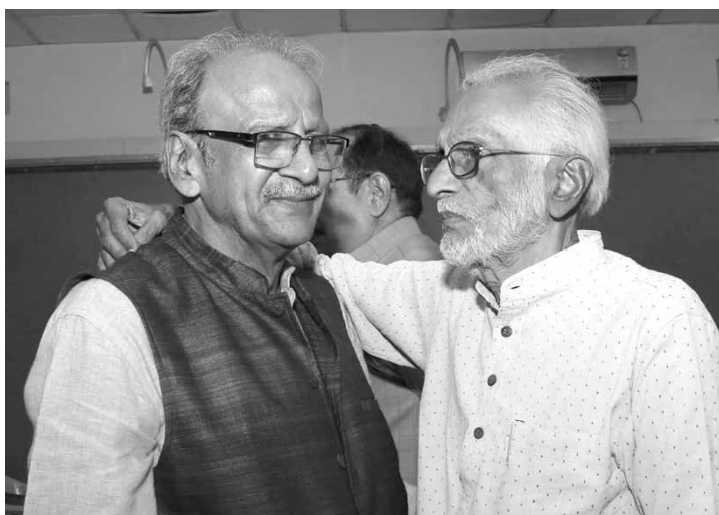
लोगों को जब उनकी जटिलता की पहचान होती है तो पूछने लगते हैं, पता लेने लगते हैं, तब अक्सर बेबसी से ही सामना होता है क्योंकि वे अनायास अपनी जटिलता का संकेत दे देते हैं। यह सब बेहद दिलचस्प है और गहरा कौतुक पैदा करता है।

उन पर लिखते हुए कुछ विकट रुदन भी देखने को मिलता है जो लिखने वाले के लिए बहुत रहस्यपूर्ण रहा होगा लेकिन ज्ञानजी की उपरोक्त

खासियतों के सन्दर्भ में वह भी बेबस नज़र आता है। अतीत की उनकी गतिविधियों का, उनकी सक्रियता का पता लगा लेना आसान है क्योंकि वह काफ़ी हद तक जाहिर है और लिखित भी है।

लेकिन जिस रुदन का जिक्र मैंने ऊपर किया है वह नीलाभ द्वारा लिखित एक किताब ‘ज्ञानरंजन के बहाने’ में एकदम शुरुआत में ही मिल जाता है और इतना सब कुछ एक किताब में कर देने का लब्बोलुआब भी है।

नीलाभ की किताब की पहली पंक्ति है, “ज्ञानरंजन की याद मेरे मन में उस पहले प्यार सरीखी बसी हुई है, जो विफल हो गया हो” या



ज्ञानरंजन के साथ लेखक

अगली पंक्ति है, “अनेक लोगों के जीवन में प्रेम वसन्त के उष्ण, मादक और आम्र मंजरियों की मस्त कर देने वाले महक से भरे झँकोरे की तरह आता है और विफल हो जाने के बाद, वर्षा अथवा शरद में, पुरवाई के बहने पर टीसती चोट की तरह टीसता रहता है। ज्ञानरंजन की स्मृति इसी प्रेम की तरह मेरे हृदय में बसी हुई है।”

तो यहाँ प्रश्न इस बात का उठता है कि आपकी प्रेम पाने की योग्यता क्या है? यहाँ सायास अपेक्षा को भी देखना जरूरी है। इसे भी देखना जरूरी है कि आपकी अपेक्षा का आकलन सामने वाली की दृष्टि में क्या है। यह सब सामने वाली की चुप्पी से उपज सकता है। सबसे उल्लेखनीय यह कि आप सम्बन्धों, रिश्तों के सन्दर्भ में खुद को देखते हैं कि नहीं।

ज्ञानजी से यह सब पूछना मुमकिन नहीं है। तब तो और जब नीलाभ अब इस दुनिया में ही नहीं हैं पर उनके लिखने से उनके प्रेम का पता तो चलता ही है और ज्ञानजी के उनके प्रति वात्सल्य का भी। जैसे वे एक बार ज्ञानजी के जबलपुर के घर में थे तब की स्मृति को एक जगह लिखते हैं, “एक रात, जाने कितने बजे, अचानक मेरी नींद खुली, तो मैंने आधी नींद में देखा कि ज्ञान मसहरी हटाकर मुझे चादर ओढ़ा रहा है, फिर उसने एहतियात से मसहरी बिस्तर के नीचे खोंसी और बिना आवाज़ किए चला गया। अगली सुबह उठने पर मैं बहुत देर तक इस घटना के बारे में सोचता रहा। ऐसी स्नेह भरी देख-रेख तो मुझे सिर्फ माँ से मिली थी।”

अब ऐसे में क्या यह विचार करने वाली बात नहीं है कि माँ भी कभी-कभी नाराज़ हो सकती है?

माँ की तरह तो नहीं, पर पिता की तरह का प्यार मैंने उनसे पाया और अनेक बार गहरी नाराज़गी भी झेली। यह अंतरंगता में होता है। यहाँ नीलाभ के लिखे के विरुद्ध कोई तर्क नहीं गढ़े जा रहे हैं बल्कि उसके बरबस अपने अनुभवों को व्यक्त करने का प्रयास है। हालाँकि ज्ञानजी के सन्दर्भ में यह नाकाफ़ी है, पर लिखने के लिए आश्वस्त किया है इसलिए लिखना तो जरूरी है।

इसी किताब में ज्ञानजी के लिए नीलाभ का अंतर्विरोध भी कई बार प्रकट होता है जब वे बहुत ही रूमनियत से लिखते हैं, “उसका कथ्य भले ही मध्य वर्ग का माहौल रहा हो, पर उस मध्य वर्ग की परतों को उघाड़ने में उसकी भाषा शैली, उसका अंदाज़ेबयाँ बिल्कुल उसका अपना था। और जब कोई भाषा शैली की शमशीर पर सान चढ़ाता चला जाएगा तो एक दिन हाथ में मूठ ही बचेगी। शायद ज्ञान में वह धैर्य, वह सलाहियत नहीं थी कि अपने ही बनाए अप्रतिम साँचे को तोड़कर नया साँचा गढ़े, जैसाकि निराला ने किया, सर्वेश्वर और रघुवीर सहाय ने किया। उसकी कला पहले एक किला बनी, फिर एक कैद।”

एकतरफ़ा समझ के साथ जब कोई ज्ञानजी के रूबरू होगा तो वह उन्हें समझने की बात तो दूर अल्प परिचय भी नहीं ले पाएगा। जब वे कहीं कुछ लिखते हैं तो उसके गहरे अर्थ निकलते हैं, उनके किसी व्यक्ति के लिए लिखे शब्दों में, चाहे वह अपनी किसी किताब पर सप्रेम भेंट के लिए लिखे हों, वे अपने प्रेम को, अपनी आत्मीयता को और

अपने-आपको गहरे अर्थों में प्रकट कर देते हैं। वे कभी भी दिखावटी औपचारिकता पूरी नहीं करते हैं। उनका गुस्सा भी झूठा नहीं होता, चाहे वह किसी छोटी या बड़ी भूल के लिए हो। वे माफ़ भी जल्दी करते हैं और भूल का स्पष्टीकरण सच्चा हो तो और भी जल्दी।

‘अनुभव’ उनकी आखिरी कहानी थी, पर उनका लिखना स्थगित नहीं हुआ। उनकी एक अत्यंत महत्वपूर्ण गद्य की किताब आई ‘कबाड़खाना’। हालाँकि उन्होंने एक बार इस बात को नकारा है कि सृजनात्मक लेखन, जैसे कहानी लेखन के लिए वे कोई सलाह दे सकते हैं, पर ‘कबाड़खाना’ को पढ़ें तब आपको पता चलेगा कि लेखन के सम्बन्ध में उनके क्या-क्या विचार हैं और इसके लिए कैसी तमीज़ होनी चाहिए। जो साहस कहीं दिखता नहीं वह साहस वे करते हैं, जैसे एक प्रश्न के उत्तर में एक बार उन्होंने कहा, “हम कला के भीतर से संदेश का प्रपंच निकले, इसमें भरोसा नहीं करते।”

यह तल्लख टिप्पणी है, गुस्से में लगते हैं, पर कहाँ चोट करती है, यह खोज करने वालों का विषय होना चाहिए क्योंकि हमारा भेदस हो चुका समाज इस इशारे के सन्दर्भ में अटा पड़ा है। यह वे खुद स्वीकार करते हैं, “एक रचनाकार की भीतरी दुनिया बहुत जटिल होती है और उसको पूरी तरह किसी थीसिस से समझा नहीं जा सकता।” दरअसल वह एक विस्तृत कबाड़खाना है, वहाँ की चीज़ों के जोड़-तोड़ से कब क्या आविष्कृत हो जाए, कहा नहीं जा सकता। एक लम्बा और गहरा धीरज ही कुछ दे सकता है। एक रचनाकार का संतोष उसे मार डालता है, उसका चैन उसे सुख तो दे सकता है पर सृजन नहीं। “फूल खिलने की अवसरवादी उम्मीद” से काम नहीं चल सकता। कबाड़खाने की जतन, मशक्कत सबके बस की नहीं होती।

ज्ञानजी को याद करने की कोशिश में यदि उद्धरणों को बटोरना शुरू किया जाए तो सिलसिला खत्म नहीं होगा। उनको समझने का सिर्फ़ एक यही रास्ता भी नहीं हो सकता। उन्हें याद करने के लिए एक कलात्मक अवलंबन की जरूरत है, खासियतें छूट न जाएँ, इसलिए सतर्कता की जरूरत है। ऐसा शिल्प चाहिए जो उनके संघटन से रूबरू हो सके, रेशे-रेशे को चीरते हुए मुठभेड़ कर सके। यह मेहनत भरा काम है। इसमें आपकी नमी पसीने के रूप में बाहर न आ पाए तो उसका क्या मज़ा? सिर्फ़ पसीना तो खारा होता है।

उनके रसायन में हिचकोले लेते ग्राफ़िक्स को देखिए। इसके लिए मैं अपने पुराने ज़िक्र पर लौट रहा हूँ। उनसे उनकी किताबें अक्सर मैं माँग लेता हूँ पर वे स्वेच्छा से भी देते हैं। पाँच-छह वर्ष पहले उन्होंने अपनी एक किताब अचानक कॉफ़ी हाउस में भेंट के दौरान मुझे गहरे प्यार के साथ दी। उस पर लिखा था, “राजेन्द्र दानी को, जिसे अब तक कुछ भी नहीं दे सका, देना सदा बाक़ी रहेगा।”

लिखे के मर्म को उनसे अपने रिश्ते के सन्दर्भ में समझना तत्काल तो अत्यन्त कठिन था। इन पंक्तियों में औपचारिकता निहित नहीं है। वे अपने तई जिस तरह न दे सकने का इज़हार करते हैं वह मेरे अस्तित्व को न केवल बड़ा बना देता है बल्कि उन्मुक्त करता है, बड़ा बन सकने के प्रयास के लिए प्रेरित नहीं, उत्प्रेरित करता है। मेरी समझने की

काबिलियत को सक्षम कर देता है। यही तो तथ्यों को मूल्यवान बना देने की कला है। यह उनके भीतर भरपूर है। अब यह समझना लगभग असम्भव है कि उन्होंने न दे सकने के खेद के साथ क्या-क्या दे दिया। हरदम देता रहूँगा इसलिए हरदम बाकी रहेगा। यहाँ एक ऐसी ऊष्मा है जिस पर पानी फेरा नहीं जा सकता।

मैं यहाँ ज्ञानरंजनजी पर लिख रहा हूँ इसलिए यह बताना अत्यन्त गौण है कि मैं उनके लिए क्या करता हूँ पर वे क्या-क्या करते रहते हैं वह निःसंकोच बता देने में कोई हर्ज नहीं है।

एक बार उन्होंने मेरे व्यक्तित्व-कृतित्व पर लिखा था जिसे मेरे अभिन्न मित्र कहानीकार हरि भटनागर ने अपनी पत्रिका 'रचना समय' में प्रकाशित किया था।

उन्होंने मेरे जन्मस्थल का नाम लेते हुए लिखा, "मैं नहीं मानता कि राजनांदगाँव कभी छोटी जगह थी। वहाँ बड़े लोग थे, बड़ी रचनाएँ लिखी गईं। जगहें भूगोल के नाम से अमर नहीं होतीं। जहाँ 'ब्रह्म राक्षस' और 'अंधेरे में' जैसी कालजयी रचनाएँ लिखी गईं, वहाँ राजेन्द्र दानी का जन्म हो चुका था। ये विरासतें भूगोल में दफन होती हैं और डी.एन.ए. में उभरती हैं।"

मेरी रचनाओं पर लिखते हुए किसी समीक्षक ने इतनी असाधारण लाइनें नहीं लिखीं। ये पंक्तियाँ किसी रचना विशेष के सन्दर्भ में नहीं हैं बल्कि मेरे सृजनात्मक रसायन पर बहुत उन्मुक्त टिप्पणी है जो मुझे न जाने किस-किस चीज़ के लिए रोकने का, ठिठककर आत्मावलोकन करने का आग्रह करती है, मुझे अंधी दौड़ में न शामिल होने को विवश करती है। यह एक ताकदी है जो उनके इस रेखांकन को बेहद महत्वपूर्ण बना देती है।

इसीलिए तो मंगलेश डबराल जैसा कवि उन पर लिखते हुए कहता है, "वे जितने अनोखे ढंग से सोचते हैं उतने ही सम्मोहक और अप्रचलित रूप में उसे दर्ज भी करते हैं।"

मैं अपने किसी भी संकट के समय उन्हें सबसे आखिर में याद करता हूँ। यह 'आखिर' सबसे बड़ा सम्बल है, सबसे बड़ा भरोसा है और सबसे बड़ा विश्वास है। वह इस तरह कि "और कोई हो न हो ज्ञानजी तो होंगे।"

खुद को सदा अपने कहने वाले लोगों का पता नहीं था उस रोज़, जिस रोज़ आज से सम्भवतः तीस वर्ष पहले मेरी पत्नी का एक मेजर ऑपरेशन हुआ था। सुबह सात बजे उसे अस्पताल में भर्ती करा दिया था। ऑपरेशन का नियत समय लेडी डॉक्टर ने दस बजे बताया था। मैं आशंकाओं से घिरा बहुत चिन्तित और उद्विग्न था। उसी दिन दोपहर की किसी ट्रेन से ज्ञानजी को मुम्बई जाना था। उनके अस्पताल तक पहुँचने की कोई सम्भावना नहीं थी पर तकरीबन साढ़े आठ बजे वे आए। मेरी पत्नी से ख़ुब सारी मजेदार बातें कीं, उसे बहुत आत्मीयता से ढाढस बँधाया। वे लगभग एक घंटे हम लोगों के साथ रहे। उनके जाते वक़्त जब मैं उन्हें छोड़ने अस्पताल से बाहर आया तो उन्होंने मेरे कंधे पर हाथ रखते हुए कहा, "देखो दानी, तुम इलाज में कोताही नहीं बरतना, मैंने सुनयना (उनकी पत्नी) से कह दिया है, ज़रूरत पड़ने पर

तुम उससे पैसे ले सकते हो, वह आज या कल किसी वक़्त अस्पताल आएगी।"

मुझे ज़रूरत नहीं थी पर अनायास मेरी आँखें नम हो गईं। मुझे अपने स्वर्गवासी पिता याद आ गए। मैं अपनी मनःस्थिति को लेकर चकित था। मेरा 'आखिर' उस रोज़ पहला हो गया था।

मैं ऐसे अनेक लोगों को जानता हूँ जिन्हें ज्ञानजी ने आर्थिक मदद दी और भूल गए। उनकी यह सदाशयता मदद पाने वाले से ही पता चली। उन्होंने कभी उल्लेख नहीं किया। यह वे सम्भवतः इतनी बार कर चुके होंगे कि यह ख़ूबी बहुत सहजता से उनका स्वभाव बन गई है।

उनके साथ अद्भुत और एक तरह से रहस्यमयी यह बात है कि आपको वे उपहारस्वरूप एक चेक डाक की सहायता से भेजें और एक पत्र भी संलग्न करें, जिस पर सबसे ऊपर लिखा हो 'गोपनीय'। उनका यह आचरण प्रशंसा योग्य हो पर आप किसी को बता नहीं सकते क्योंकि उन्होंने गोपनीयता की शपथ दे दी है।

प्रचलित अर्थों में अथवा समकालीन समझ-बूझ से इसे देखेंगे तो यह विचित्र लगेगा पर सम्बन्धों की गरिमा इसी से स्थायी हो सकती है वे अच्छी तरह समझते होंगे। यह गरिमा अन्यत्र देखने नहीं मिलती। इसलिए वे हम सबके बीच में परम आदरणीय हैं और एक तरह से देखा जाए तो संरक्षक भी हैं। अक्सर हम मित्रों की पत्नियाँ हमारी गड़बड़ियों की शिकायत उनसे करने की धमकी देकर हमें सीधा करती रही हैं जैसा की प्यार से भरे एक परिवार में होता रहा है। इस तरह वे हमारे सबसे बड़े और ज़िम्मेदार बुजुर्ग हैं।

उनके रचनाकर्म पर, उनकी कहानियों पर इस महादेश में इतना लिखा गया है कि हिन्दी की पहली कहानी से लेकर अभी तक आते हुए आप ज्ञानरंजन को हर जगह पाएँगे और खुद भी नहीं छोड़ सकेंगे। कोई कह दे कि वे भारतीय साहित्य के निर्माताओं में एक हैं तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। हम देखेंगे कि उनकी मशाल जलती रहेगी।

वे रचनाकारों का किस तरह आदर करते हैं, यह अनेक बार पता चला है। 'पहल 29' और 'पहल 30' कहानी केन्द्रित विशेषांक थे। मैं जबलपुर में हूँ वे भी जबलपुर में हैं पर उन्होंने विशेषांक के लिए कहानी देने का आग्रह चिट्ठी लिखकर किया। मुझे यह आग्रह वे व्यक्तिगत रूप से कर सकते थे, पर नहीं किया। इससे मेरे मन में उनके प्रति क्या प्रतिक्रिया हुई होगी, इसे समझा जा सकता है। तब मैं युवा था और नया-नया कहानीकार, मुझे ऐसा आदर न भी मिलता तो मेरे भीतर कोई शिकायत नहीं उभर सकती थी। इस एक चिट्ठी से उन्होंने मेरे कहानीकार को गम्भीर उत्तरदायित्व से भर दिया पर इन सबके बावजूद हम चकित रह जाते हैं जब वे अपने लिए साहिर की इन पंक्तियों को उद्धृत करते हैं—

'चन्द कलियाँ निशात की चुनकर,
मुद्तों मह-वे-यास रहता हूँ,
तुझसे मिलना खुशी की बात सही,
तुझसे मिलकर उदास रहता हूँ।'

□

मैं अपनी अनास्था में अधिक सहिष्णु हूँ

कुमार मंगलम



स्वप्नानं जागरितां चोभौ येनानुपश्यति। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।। (बृहदारण्यक उपनिषद्)

(धीर पुरुष उस 'महान्' विभु-व्यापी 'परमात्मा' को जानकर जिसके द्वारा व्यक्ति स्वप्न तथा जागृत दोनों अवस्थाओं के अंत को देखता है, शोक से विरत हो जाता है।)

भारतीय दर्शन, साहित्य, कला एवं विचार में 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिव अजायते पुनः' का भाव एक कलात्मक दृष्टिकोण के रूप में ही नहीं वरन् एक बुनियादी जीवन-दर्शन एवं विवेक के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। जो सृजन भी है सृजनकर्ता भी, स्वप्न भी और स्वप्न द्रष्टा भी। भारतीय चिन्तन परम्परा में वस्तुवादी यथार्थ-बोध सब कुछ रीत जाने का नहीं बल्कि समय के साथ एकाकार भाव से मृत्यु और त्रासदी के भाव की स्वीकार्यता है जहाँ जीवन केवल देह-वस्तु है। आत्मा अजर-अमर है। यानी जीवन का, अमरता का मूल तत्त्व सुरक्षित है जिससे किसी भी जीवन का मूल स्वभाव निर्धारित होता है। मृत्यु का यह अस्वीकार और अमरता की यह स्वीकार्यता वस्तु एवं जीवन जगत से उदात्त सम्बन्ध का प्रबल घोषणा-पत्र है। कालातीत और काल-सापेक्ष के बीच का संतुलन जीवन-दृष्टि से उत्पन्न होता है, जो आत्मा के उन्नयन के बीजों में संरक्षित है। जो आदमी के अंदर है, बाहर नहीं। भारतीय दर्शन इन्हीं अर्थों में मनुष्य को शोक विरत करने का उपक्रम है। साहित्य भी इससे परे नहीं। भरत मुनि के 'रस-सिद्धांत' से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'चिन्तामणि' के निबन्धों तक भाव और मनोविकारों का विस्तृत विश्लेषण और वर्गीकरण है।

समकालीन हिन्दी कविता परिदृश्य में भारतीयता के प्रसंग को यथार्थ एवं समकालीन सवालों की तीक्ष्णता की ज़मीन पर कुँवर नारायण ने विशेष अर्थ संकेतों के साथ अपनी कविताओं में दर्ज किया है। मिथकीय प्रसंगों को लेते हुए कुँवर नारायण भारतीय दर्शन के उन तत्त्वों को उठाते हैं, जहाँ कुँवर नारायण के लिए मौलिकता का अवकाश

हो। और इस प्रक्रिया में वे दर्शन को पूर्वग्रह, अविश्वास, अंधविश्वास और आस्थाओं से विलगाते हैं। यह अलगाव आधुनिक समस्याओं को केन्द्र में रखते हुए न सिर्फ अधीनस्थ सामूहिक समूह की चिन्ता से पैदा हुआ है बल्कि सम्पूर्ण मानवता की चिन्ता से जनमता है। ग्राम्शी इसे ही इतिहासवाद और पुरातन-दर्शनों का अधिग्रहण कहते हैं। यानी कि कुँवर नारायण औपनिषदिक कथासूत्र लेते हुए भी अपने समकालीन सन्दर्भों के लिए अवकाश तो निकालते ही हैं बल्कि उसमें अपनी मौलिक उद्भावना के लिए भी जगह बना लेते हैं अर्थात् 'आत्मजयी', 'वाजश्रवा के बहाने' और 'कुमारजीव' के कथासूत्र को देखें तो 'आत्मजयी'

और 'वाजश्रवा के बहाने' में निहित नचिकेता की औपनिषदिक कथा से अलग पिता-पुत्र सम्वाद, क्षमाभाव और पश्चाताप के लिए और कुमारजीव में कुमारायण और जीवा में कुमारजीव के भविष्य के लिए पति-पत्नी सम्वाद और रचनाकार के तनाव के लिए जो स्थान है, वह कुँवर नारायण का नितांत अपना है। इन हिस्सों को देखें तो व्यक्तिगत, समष्टिगत और राजनैतिक स्तर को लक्षित कर सकते हैं। 'कुमारजीव' में कुमारजीव के रचनाकार पक्ष में और 'आत्मजयी' और 'वाजश्रवा के बहाने' में नचिकेता और वाजश्रवा के रूप में स्वयं कुँवर नारायण की उपस्थिति व्यक्तिगत है। यह प्रथमतः और अंततः समाज को सम्बोधित है और इनका समकालीन सन्दर्भ राजनैतिक है।

कुँवर नारायण की रचनाधर्मिता के मूल में जीवन-विवेक के साथ-साथ समन्वय और समावेश की विराट चेतना मनुष्य की जिजीविषा के खराद पर निर्मित होता है। जहाँ संघर्ष के साथ साथ सुलहें भी हैं। मनुष्यता का एक संयत स्वर निस्पृह बौद्धिकता की भीतरी यात्रा के साथ करुणा का जीवद्रव्य भी इन रचनाओं में मौजूद है। कुँवर नारायण के तीनों खंडकाव्य 'आत्मजयी', 'वाजश्रवा के बहाने' और 'कुमारजीव' को देखें तो आप पाएँगे कि 'आत्मजयी' और 'वाजश्रवा के बहाने' वे खुद ही अपराजेय नचिकेता और पश्चाताप करता हुआ सुलह-समझौते वाला पिता वाजश्रवा और 'कुमारजीव' का



सम्पर्क : मो. 8840649310, ई-मेल : mangalam1509@gmail.com

तटस्थ शिक्षक व पिता कुमारायण और रचनाकार के रूप में संवेदनशील और दुःख का अनंत भोगता रचनाकार कुमारजीव दोनों हैं। इन दो इकाइयों में कुँवर नारायण की सर्वाधिक मौलिक निर्मिति पिता-पुत्र द्वन्द्व का रचाव है। दरअसल यह वह द्वन्द्व है, जहाँ कुँवर नारायण दो समयों को, दो पीढ़ियों को, दो युगों को, दो विचारों को, दो आधुनिकताओं को सम्बोधित कर रहे होते हैं। कुँवर नारायण का यह सम्बोधन बहुत हद तक आत्मिक और जैविक है। कुँवर नारायण के यहाँ यह दृष्टि भले ही आत्मसजगता के स्तर पर आती है और उनकी यह द्वन्द्वात्मकता मार्क्सवादी नहीं है किन्तु आचार के दर्शन के आधार पर इस द्वन्द्वात्मकता को समझें तो उत्तर-मार्क्सवादी विद्वान ग्रांशी के विचारों तक आती जरूर है। “आचार का दर्शन बौद्धिक और नैतिक सुधार के सम्पूर्ण आंदोलन के चरम उत्कर्ष का प्रतीक है। यह जन-संस्कृति और अभिजन-संस्कृति के बीच में अंतर के सम्बन्ध में द्वन्द्वात्मक बन जाता है।... यह एक दर्शन है जो राजनीति भी है जो दर्शन भी है।” इन रचनाओं से गुजरते हुए आपके मानस को पहले से सम्बोधित कर रही मिथकों अथवा पौराणिक सन्दर्भों के सघन अरण्य के अंतस्तल में विचार और आधुनिकता की पक्षधर वे चिन्ताएँ मिलेंगी जो मनुष्यता के कठिन और अनुत्तरित प्रश्नाकुलता से पैदा हुई हैं। यहाँ एक सुगठित और अकाट्य जीवन-विवेक की तलाश समझौते पर नहीं सम्वाद की आत्मीयता पर घटित होता है। कुँवर नारायण ‘वाजश्रवा के बहाने’ की भूमिका में लिखते हैं, “जीवन में संघर्ष भी है, पर संघर्ष ही संघर्ष नहीं हैं... उसमें मार्मिक समझौते और सुन्दर सुलहें भी हैं। इस विवेक को प्रमुख रखकर भी जीवन को सोचा और चित्रित किया जा सकता है। संघर्ष और हिंसा अतिवाद में है न कि विभिन्नताओं में।”

‘आत्मजयी’, ‘वाजश्रवा के बहाने’ और ‘कुमारजीव’ की रचनात्मक बुनावट को लक्ष्य करें तो जहाँ ‘आत्मजयी’ जीवन को मृत्युमुखी देखने का, ‘वाजश्रवा के बहाने’ जीवन की ओर से मृत्यु की ओर देखने का यानी जीवनोन्मुखी तो ‘कुमारजीव’ में जीवन को जीवन-संघर्षों के ‘उदात्त’ में देखने का उपक्रम है, किन्तु मनुष्य की सम्पूर्ण साहसिकता के आवरण के साथ। यह साहस नैतिक भी है और आत्मिक भी। याद करें इनकी बहुचर्चित कविता—

‘कोई दुख
मनुष्य के साहस से बड़ा नहीं
वही हारा जो लड़ा नहीं’।

किन्तु यह लड़ाई आपसी संघर्षों की लड़ाई नहीं है। यह दो व्यक्तियों का अपने अधिकारों का द्वन्द्व नहीं है जैसाकि उनकी कविता ‘सम्मेदीन की लड़ाई’ में है—

‘किसी ने कहा
‘लड़ो’ जिन्दगी हक़ की लड़ाई है
हथियार उठाया तो देखा
मेरे खिलाफ़ पहला आदमी मेरा भाई है।’

कुँवर नारायण के यहाँ लड़ाई अदम्य साहस एवं औपनिषदिक साहस की लड़ाई है। जहाँ आत्मिक-विवेक जीवन-विवेक की तकों का उत्खनन करता है। एक बौद्धिक प्रश्नाकुलता स्व की तलाश कई समयों में करता है। यह मनुष्य की उस जैविकता को सम्बोधित है जिसके केन्द्र में मनुष्य है और उसकी सर्वोच्च ईहा मनुष्यता है। “जीवन का

अपना सम्मोहन होता है जो मृत्यु के संत्रास के बावजूद हमें जीने की शक्ति देता है।...जीवन के इसी प्रबल आकर्षण के स्पर्श की चेष्टा है। इस जिजीविषा के विभिन्न आयाम चाहे भौतिक हों या आत्मिक, चाहे दार्शनिक हों या भावनात्मक, तत्त्वतः वे हैं जैविक ही।”

आत्मा के साहस की यह सनातन लय कुँवर नारायण की कृतियों का टेक है। ‘मानवता का उदात्त’, ‘आत्म की नैतिकता’, ‘सम्वाद की प्रश्नाकुलता’ और ‘संघर्ष की साहसिकता’, ये वे तन्तु हैं जिनसे उनकी रचनाओं का ताना-बाना निर्मित होता है। भाषा, शिल्प और विचार में मनुष्य की निजता का अतिक्रमण किए बग़ैर सामाजिकता की स्थापना और अशिव के सभी आयामों का निषेध कविता की महत्ता को स्थापित करती है।

‘कुछ इस तरह भी पढ़ी जा सकती है / एक जीवन-दृष्टि
कि उसमें विनम्र अभिलाषाएँ हों / बर्बर महत्वाकांक्षाएँ नहीं
...ईर्ष्या द्वेष के बदरंग हादसे नहीं / निकट सम्बन्धों के माध्यम से
बोलता हो पास-पड़ोस / एक सुभाषित, एक श्लोक की तरह
सुगठित और अकाट्य हो / जीवन-विवेक।’

बीती शताब्दी और इस शताब्दी के बीस वर्ष बीतने के बाद हम देखते हैं कि हमारे विचारों, जीवन और मान्यताओं पर विज्ञान हावी होता चला गया है। आधुनिकता से लेकर उत्तर सत्य, तकनीक, विकास, प्रगति, संघर्ष, बहिर्मुखता यानी ऑब्जेक्टिविटी इत्यादि शब्द हमारे आत्मिक उन्नयन का, हमारे भौतिकतातिरेक को स्थानापन्न किए हुए हैं। आज बाज़ार और पूँजी हमारे नियन्ता और नियन्त्रक बन बैठे हैं। हम उसके प्रॉडक्ट हो गए हैं और बहुत हद तक उनसे संचालित भी हो रहे हैं। जानकारीयों के बाहुल्य ने हमारे सोचने के ढंग में एक व्यवस्था तो दी है। हम तार्किक भी हुए हैं किन्तु इस विकास यात्रा में हमने बहुत कुछ खोया भी है। मनुष्य अपने विकास क्रम के अतिरेक पर चला गया है और इस युग को मनुष्य के प्रभाव बाहुल्य में एंश्रोप्सीन भी कहा जा रहा है। ज़रा ठहरकर सोचने पर पता चलता है कि हमने अपने जीवन को यान्त्रिक बना डाला है। जीवन-विवेक के सवालों की जगह हमारे जीवन पर ही सवाल खड़े होने लगे हैं। जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण की हम बात करते हैं वह तथ्यपरक और वस्तुनिष्ठ है। हमारी कोमलतम भावनाएँ, प्रेम, आस्था, अनुभूति इत्यादि ‘वस्तु’ में तब्दील हुई हैं। मनुष्यता का कोमलतम रागात्मक भाव तटस्थ हुआ है, जिसे कविता संरक्षित करती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने निबन्ध ‘कविता क्या है?’ में कविता से सम्बन्धित कुछ परिभाषाएँ देते हैं। “कविता से मनुष्य-भाव की रक्षा होती है।” “कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।” और “सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की भीतरी रागात्मिकता प्रकृति का सामंजस्य ही कविता का लक्ष्य है। वह जिस प्रकार प्रेम, क्रोध, करुणा, घृणा आदि मनोवेगों या भावों पर सान चढ़ाकर उन्हें तीक्ष्ण करती है उसी प्रकार जगत के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उनका उचित सम्बन्ध स्थापित करने का उद्योग करती है।” अर्थात् जिसे हम उन्नति समझ रहे हैं वह हमारी आत्मिक उन्नति की क्रीमत पर हुआ है। इससे कविता तो क्या मनुष्यता पर भी खतरे आसन्न हैं। कुँवर नारायण अपनी कविताओं में इस भौतिकतावादी उन्नति का प्रत्याख्यान रचते हैं और आत्मिक उन्नयन के पैरोकार बनते हैं।

किसी महात्मा से पूछा था एक बार किसी ने—

‘कितना समकालीन है तुम्हारा सत्य?’

कितने आधुनिक हैं तुम्हारे हथियार?

कितना तर्कसंगत है तुम्हारा सन्देश?

क्या तुम्हारे सिपाही

लड़ सकते हैं

एक महायुद्ध?’

कोई उत्तर न देकर

महात्मा ने पूछा था उससे—

‘कितना विकसित है तुम्हारा जीवन-विवेक?’

कितना आधुनिक है तुम्हारा युद्ध?

कितने प्रबुद्ध हैं तुम्हारे सैनिक?

क्या वे लड़ सकते हैं

स्वयं से

एक आत्मिक न्याय-युद्ध?’

हमने अपनी इस विकास-यात्रा में यथार्थ की विकृतियों का ऐसा रहस्य लोक निर्मित किया है जो एक क्रिस्म का अति-यथार्थ है। जिन्होंने जीवन-विवेक के लिए एक अनुशासन और नैतिकता की माँग की वह या तो उपेक्षित है अथवा उसे मार डाला गया। गाँधी की वैचारिक यात्रा में अहिंसा, सत्याग्रह, ईश्वर, चरित्र जैसे आदर्शों का हमने क्या किया? आज गाँधी एक मात्र प्रतीक हैं जो तब हत्या थी आज वध में तब्दील हो गया है और राजनीति ने गाँधी को प्रतीक में तब्दील कर दिया है। गाँधी की राजनीति का सबसे प्रबल और दूरदेशी प्रत्यय आत्मबल और नैतिकता था। उस सवाल की हत्या हमने की।

‘मैं तुम्हारा मतलब नहीं समझा!

चीख पड़ा था एक अधीरज,

और बिना महात्मा का मतलब समझे

उसने एक महा-आत्मा की हत्या कर दी

हत्या के सबसे विकसित

हथियार से!’

आज अगर भारतीय राजनीति बिल्कुल भ्रष्ट और चरित्र-निरपेक्ष दिखाई दे रही है तो उसके पीछे सम्पत्ति है, पूँजी है। हम लगातार अपनी मनुष्यता की भौतिक सम्पदा से दूरी बनाते गए हैं। हमारे आत्मबल को हटा कर हमारी महत्वाकांक्षा जगह लेती गई है। हमने अपनी पहचान, अस्मिता, स्थानीकता इत्यादि को वैश्वीकरण से जोड़ दिया है। सत्ता में बने रहने की महद्-आकांक्षा ने शासकों को निष्ठुर बनाया है और जनता को बेबस। हमने एक अनुशासनहीन और जनविरोधी सरकार को जन्म दिया है—

‘अति महत्वाकांक्षी और निष्ठुर शासक की प्रजा

कभी सुखी नहीं हो सकती

लोगों को भुलावे में रखना

उनके साथ विश्वासघात है

आक्रामकता का मनोविज्ञान कहीं

हिंसक प्रवृत्तियों को उकसाता है

सदाचार और सद्दिचारों की

एक महिमा होती है

जिससे उत्प्रेरित मानव मूल्यों से भी

अनुशासित हो सकता है

एक राज्य और समाज।’

कुँवर नारायण अपने आशयों में मनुष्यजनित मानव मूल्यों को बचाने में सबसे अग्रणी साहित्यकार हैं जिनकी चिन्ताएँ भौतिक कम आध्यात्मिक अधिक हैं। यह आध्यात्मिकता धर्मध्वजी नहीं है। वे धर्म-भीरु भी नहीं हैं जिससे आज की राजनीति संचालित हो रही है बल्कि कुँवर नारायण की आध्यात्मिकता मनुष्य में निहित मनुष्यता के मूल्यों को सम्बोधित है। उनके यहाँ आध्यात्मिकता के आवरण में लिपटी अपनी संस्कृति को ही सर्वोच्च मानने की बात नहीं है बल्कि वह स्वीकार्य-भाव है कि हमारी एक अपनी विशिष्ट संस्कृति है और हम उन मूल्यों को लेकर चलें तो मनुष्यता को एक बृहद-आकाश दिया जा सकता है जिसका उल्लेख एडवर्ड सईद ने अपनी पुस्तक ‘कल्चर एंड एम्पीरियलिज्म’ के अंतिम पैरा में किया है “कोई भी आज केवल एक ही चीज़ नहीं बचा है। जैसे भारतीय या स्त्री या मुस्लिम या अमरीकी जैसे ठप्पों से शुरू तो कर सकते हैं, लेकिन आगे बढ़ते ही हमारे अनुभव उन्हें एकदम खारिज कर देते हैं। साम्राज्यवाद ने संस्कृतियों और पहचानों को एक-दूसरे में घोल दिया लेकिन इसका सबसे बड़ा और बुरा विरोधाभास यह था कि हम अपने को मुख्यतः और सर्वप्रथम गोरे या काले या पश्चिमी या पूर्वी मानकर सोचने लगे। दरअसल, जैसे आदमी अपना इतिहास बनाता है, उसी तरह अपनी संस्कृतियों और पहचानों को भी। इसमें संदेह नहीं की लम्बी परम्पराओं, रहन-सहन के स्थायी तौर-तरीकों, राष्ट्र-भाषाओं और सांस्कृतिक भूगोलों की अटूट धाराएँ होती हैं लेकिन इसमें सिवाय शक और संदेह के दूसरा कोई कारण नहीं दिखता कि उन्हें एक-दूसरे से अलग और विशिष्ट मानकर इस तरह बरता जाए मानो मनुष्य के जीवन का इससे बड़ा कोई उद्देश्य ही न हो। जीवन का अर्थ है चीज़ों के बीच सम्बन्ध परिलक्षित कर सकना जैसा इलियट ने कहा है, “यथार्थ को हम उन तमाम ध्वनियों से खाली तो नहीं कर दे सकते जो पूरे बाग में रची-बसी है।” दूसरों को गैर मानकर नहीं, अपनी ही तरह मानकर सोचते हैं, जो मुश्किल जरूर है, तो वह हमें समृद्ध करता है। बशर्ते कि इसके पीछे भी हमारी मंशा कहीं भी दूसरों पर शासन करने या धाक जमाने अथवा वर्गभेद या रंगभेद आदि पैदा करने की न हो और सबसे बढ़कर तो यह शेखी बघारना जरूरी नहीं कि हमारा देश, हमारी संस्कृति ही सबसे बढ़कर है।”

कुँवर नारायण की कविता है, ‘अबकी अगर लौटा तो’। इस कविता में कुँवरजी जिस बृहद मनुष्य और कृतज्ञ मनुष्य को स्थापित कर रहे होते हैं, वह समन्वय और सह-अस्तित्व की विराट चेतना का रूपाकार ही तो है—

‘अबकी अगर लौटा तो / बृहत्तर लौटूँगा / चेहरे पर लगाए नोकदार
मूँछे नहीं / कमर में बाँधे लोहे की पूँछे नहीं / जगह दूँगा साथ चल रहे
लोगों को / तरे कर न देखूँगा उन्हें / भूखी शेर-आँखों से / अबकी अगर
लौटा तो / मनुष्यतर लौटूँगा / घर से निकलते / सड़कों पर चलते / बसों
पर चढ़ते / ट्रेनें पकड़ते / जगह बेवजह कुचला पड़ा / पिद्दी-सा जानवर
नहीं / अगर बचा रहा तो / कृतज्ञतर लौटूँगा / अबकी बार लौटा तो /
हताहत नहीं / सबके हिताहित को सोचता / पूर्णतर लौटूँगा”।

पृष्ठ 48 पर जारी...



रानी वेलु नाचियार स्वाधीनता संग्राम की अपरिचित वीरांगना

शिवम तिवारी

हमारे देश में समय-समय पर सैकड़ों वीर और वीरांगनाओं का प्रादुर्भाव हुआ है जिन्होंने अपने बल, पराक्रम एवं अद्वितीय कार्यों से हमारी धरा को गौरवान्वित कर इसको अमूल्य और अतुलनीय बना दिया। कुछ वीर और वीरांगनाओं को अपार ख्याति प्राप्त है परन्तु कुछ अद्वितीय एवं सराहनीय कार्य करने के बावजूद भी गुमनाम हैं। आज आवश्यकता है कि हम इतिहास के हर पन्ने को पलटकर उसका सही विश्लेषण करें और इतिहास की हर महत्वपूर्ण घटना से अवगत हों। हर उस व्यक्ति के बारे में जानें जिसने हमारे इतिहास और स्वाधीनता संग्राम में कोई सराहनीय योगदान दिया है।

1857 की क्रान्ति को प्रथम स्वाधीनता संग्राम की संज्ञा दी जाती है, जिसमें रानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब, बेगम हज़रत महल, मंगल पाण्डेय, बहादुर शाह ज़फ़र, मौलवी अहमदुल्ला शाह जैसे न जाने कितने स्वतन्त्रता सेनानियों ने अपने योगदान और प्रयासों से सर्वप्रथम क्रान्ति की चिंगारियाँ उत्पन्न कीं जो आगे चलकर ज्वाला के रूप में जलती रहीं परन्तु तमिलनाडु में एक ऐसी महान वीरांगना हुई जिन्होंने अपने साहस और पराक्रम से अंग्रेज़ों को 1857 की क्रान्ति से पूर्व न सिर्फ़ पराजित किया बल्कि एक दशक तक शासन भी किया। वह महान वीरांगना कोई और नहीं बल्कि रानी वेलु नाचियार थीं जो ज्ञान, शौर्य एवं प्रतिभा की अदम्य और निर्भीक मूर्ति थीं जिन्होंने अपने साहस और सूझ-बूझ के दम पर अंग्रेज़ी बुनियाद को हिलाने का सराहनीय प्रयास किया। वह वास्तव में भारत की पहली ऐसी वीरांगना थी जिन्होंने अंग्रेज़ों से लोहा लिया। तमिलनाडु में उस वीरांगना को 'वीरमंगई' के नाम से ख्याति प्राप्त है। तमिलनाडु में उनकी वीरता के किस्से सुनाए जाते हैं और उनके जीवन पर आधारित विभिन्न प्रकार के अभिनय किए जाते हैं।

भारत में तमिलनाडु में रामनाथपुरम नाम का एक जनपद है। रामनाथपुरम तमिलनाडु के दक्षिणी-पूर्वी भाग में स्थित है। इसलिए इसकी दक्षिणी-पूर्वी सीमा समुद्र से लगती है। इस जनपद को 'रामनाथ' के नाम से भी जाना जाता है। समुद्र तटीय स्थान होने के कारण यहाँ का वातावरण अत्यंत मनोहर, सुन्दर, आकर्षक एवं प्रकृति के यौवन

से सुसज्जित है। रामनाथपुरम में एक राजा राज्य करते थे जिनका नाम चेल्लामुथु सेतुपति था। उनकी पत्नी का नाम रानी सक्कादिमुथुल था। राजा सेतुपति बहुत ही उदार, दानी एवं प्रजा वत्सल थे। उनके शासनकाल में चारों तरफ़ अमन और शान्ति थी परन्तु राजा-रानी के कोई संतान न थी। सम्पूर्ण प्रजा ईश्वर से प्रार्थना करती थी कि उनको उनके राज्य के लिए एक तेजस्वी उत्तराधिकारी मिल जाए। राजा-रानी भी पुत्र की कामना से ईश्वर की उपासना के साथ-साथ प्रजा के हितों का भी विशेष ध्यान रखते थे। अंततः ईश्वर ने उनको एक संतान प्रदान की। 3 जनवरी सन् 1730 को वेलु नाचियार का जन्म हुआ। सम्पूर्ण राज्य खुशियों की किलकारियों से गूँज उठा। राज्य में हर जगह मंगल गान हो रहे थे। राजकुमारी सुन्दर तो थी ही, उसके चेहरे पर एक विशेष प्रकार

का तेज भी था। उसके चेहरे को जो भी देखता, वह उसकी ओर आकर्षित हो जाता था। बाल्यावस्था से ही राजकुमारी बड़ी प्रतिभासम्पन्न थी। वह बचपन से ही एकाग्रचित्त मन की गम्भीर बालिका थी। वह जिस कार्य को करती थी उसको पूर्णतः अलग एवं अद्वितीय रूप से करती थी। राजा और रानी की एक मात्र संतान होने के कारण वेलु का पालन-पोषण एक राजकुमार की तरह किया गया।

अल्पायु में ही तीरंदाजी, घुड़सवारी, तलवा रबाज़ी, सिलंबम (तमिलनाडु में लाठी चलाने की कला को 'सिलंबम' कहते हैं) और मार्शल आर्ट में निपुणता हासिल की। वेलु अध्ययन में भी बहुत तीव्र थीं। उन्होंने तमिल, उर्दू, अंग्रेज़ी, फ़्रेंच और हिन्दी जैसी भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान

अर्जित कर लिया। इनकी प्रतिभा को देखकर राजा-रानी को यह अनुभव ही न हुआ कि ईश्वर ने उनको पुत्री दी है। राजा-रानी उन्हें पुत्र की भाँति प्रेम करते थे। वेलु ने कम उम्र में ही तमिल ग्रन्थों का अध्ययन कर स्वयं को राज्य का योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध कर लिया।

रामनाथपुरम से लगभग 100 किलोमीटर की दूरी पर शिवगंगा नाम का एक छोटा-सा राज्य था। वह राज्य सेतुपति के ही अधीन था। वहाँ राजा शशि वर्मा थेवर राज्य किया करते थे। उन्होंने झाड़ियों और जंगलों को कटवा कर सड़कों, तालाबों और भवनों का निर्माण करवाया था कि लोगों को आवागमन में सुविधा मिल सके। खेती को विशेष



भारत सरकार द्वारा वर्ष 2008 में जारी
रानी वेलु नाचियार का डाक टिकट

सम्पर्क : मो. 7054374201 ई-मेल : tiwarishivam4931@gmail.com

महत्व देकर उन्होंने शिवगंगा को एक ऐसा राज्य बना दिया जो सर्वत्र उन्नति की ओर अग्रसर था। शशि वर्मा के शासनकाल में प्रजा काफ़ी खुश थी। राजा शशि वर्मा के एक पुत्र था जिसका नाम मुथु वेदुंगनाथ थेवर था। शशि वर्मा के पुत्र का विवाह वेलु नाचियार से हो गया था। शशि वर्मा की मृत्यु के बाद मुथु वेदुंगनाथ थेवर ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली और कर्तव्यनिष्ठा के साथ राज्य करने लगे। उस समय उनकी आयु लगभग 16 वर्ष थी। वेलु अपने पति की मित्र, सहायक, सलाहकार और एक भरोसेमंद सहयोगी सिद्ध हुई। ईश्वर की अनुकम्पा से रानी को एक पुत्र की प्राप्ति हुई जिसका उन्होंने 'बेलाची' नाम रखा।

उस समय ईस्ट इंडिया कम्पनी दक्षिण भारत में अपने पाँव पसारने में लगी थी। अंग्रेज़ों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाकर भारत के राजाओं को आपस में लड़वाना शुरू कर दिया। अंग्रेज़ मन्त्रियों, सेनापतियों और राजाओं को अपना ज़रिया बनाकर अपना उल्लू सीधा करते थे। अंग्रेज़ों का वर्चस्व भारत में दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा था। आरकोट के नवाब ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगे घुटने टेक दिए परन्तु शिवगंगा के राजा वेदुंगनाथ थेवर ने अंग्रेज़ों के आगे समर्पण नहीं किया। इसलिए अंग्रेज़ शिवगंगा पर अपनी नज़र टिकाए हुए थे। चाहते थे कि किसी तरह से राजा को आत्मसमर्पण करने के लिए विवश कर दें। वे किसी उपयुक्त अवसर की तलाश में थे। जून 1772 में अंग्रेज़ों ने एक षड्यन्त्र के माध्यम से राजा की हत्या कर दी और कर वसूल करने के बहाने उन्होंने महल पर आक्रमण कर दिया। चूँकि पहले से ही अंग्रेज़ों के आक्रमण की आशंका थी इसलिए महल की सुरक्षा हेतु बहुत सारी व्यवस्थाएँ की गई थीं परन्तु कपट, कूटनीति एवं षड्यन्त्रों के माध्यम से अंग्रेज़ों ने क़िला जीत लिया और लाशों के ढेर लगा दिए। रानी वेलु नाचियार अपने पुत्र और विश्वासपात्र सेवकों के साथ महल से पलायन कर गईं। रानी के पलायन करते ही आरकोट के नवाब ने महल अपने अधीन कर लिया और अंग्रेज़ों के अधीन होकर राज्य करने लगा।

अंग्रेज़ों ने रानी को ढूँढ़ने में कोई कसर न छोड़ी परन्तु वे रानी वेलु नाचियार के बारे में कुछ न पता कर सके। वेलु डिंडीगुल के निकट वीरुपाक्षी नामक स्थान पर पहुँचीं। महारानी वेलु नाचियार की मुलाकात गोपाला नायकर से हुई। गोपाला नायकर भी अंग्रेज़ों के अत्याचारों से बहुत कुंठित था और वह चाहता था कि अंग्रेज़ भारत छोड़कर चले जाएँ। गोपाला नायकर रानी वेलु नाचियार का शुभचिन्तक और सहायक सिद्ध हुआ परन्तु थोड़े समय के उपरांत रानी के विश्वासपात्रों ने रानी से यह कहा कि रानी के लिए यह एक सुरक्षित स्थान नहीं है। रानी ने वह स्थान छोड़ दिया और दूसरी जगह की तलाश की।

उस समय मैसूर पर हैदर अली का शासन था। हैदर अली बहुत ही बहादुर व्यक्ति था और अपने दम पर अंग्रेज़ों की नाक में दम कर रखा था। हैदर अली कुशल कूटनीतिज्ञ था। उसने मैसूर के प्रथम युद्ध में अंग्रेज़ों को धूल चटा दी थी। मैसूर के प्रथम युद्ध में हैदर अली का भय उनके हृदय में व्याप्त हो गया था और हैदर अली उनको काँटे की तरह चुभ रहा था। हैदर अली का पुत्र टीपू भी आगे चलकर एक वीरपुत्र साबित हुआ जिसने अंग्रेज़ों को काफ़ी परेशान किया।

जब अंग्रेज़ों से बचती हुई रानी इधर-उधर भटक रही थी तो उसी समय हैदर अली को यह बात ज्ञात हुई तो उसने अपने सेवकों के

माध्यम से यह संदेश रानी वेलु नाचियार तक पहुँचाया कि हैदर अली उनसे मिलना चाहता है और धन एवं बल दोनों प्रकार की सहायता करने को तैयार है। रानी वेलु नाचियार को जब यह ज्ञात हुआ तो वह मिलने के लिए रवाना हुई। हैदर अली ने रानी वेलु नाचियार का स्वागत एक महारानी की भाँति किया। रानी की उर्दू भाषा पर अच्छी पकड़ थी, इसलिए उन्होंने अपनी वाणी की मधुरता से हैदर अली को प्रसन्न कर लिया। हैदर अली तो अंग्रेज़ों के खिलाफ़ थे ही, उन्होंने कहा वह शिवगंगा को छुड़ाने के लिए, अंग्रेज़ों से युद्ध करने के लिए और रानी को सैन्य सहायता देने को तैयार हैं। हैदर अली से सहायता का आश्वासन पाने के बाद रानी विरुपाक्षी लौट आईं। रानी ने अपनी सेना को संगठित करना शुरू किया। उन्होंने अपनी सेना का नाम अपनी एक विश्वास पात्र सेविका उदयाल के नाम पर 'उदयाल सेना' रखा। रानी को उस पर अटूट विश्वास था।

प्रतिवर्ष दशहरे के दिन शिवगंगा में स्थित राजराजेश्वरी देवी के मन्दिर में दशहरे का उत्सव मनाया जाता था। देवी पूजन के समय वहाँ पर भारी संख्या में स्त्रियाँ उपस्थित होती थीं। इसी अवसर का फ़ायदा उठाकर रानी ने अपनी सेना की सभी महिलाओं को मन्दिर के अंदर हथियारों समेत भेज दिया। रानी की सेना की महिलाओं ने हथियारों को फलों और फूलों की टोकरी में छिपा लिया। देवी पूजन के उपरांत वीर महिलाओं ने वहाँ पर उपस्थित अंग्रेज़ी सरकार के जो सैनिक तैनात थे उन पर एकाएक आक्रमण कर दिया। चूँकि अंग्रेज़ों को इस प्रकार के किसी आक्रमण की आशंका न थी अतः सहसा हुए इस आक्रमण से वे भौचक्के रह गए। अंग्रेज़ी सिपाहियों और स्त्रियों के मध्य काफ़ी संघर्ष हुआ।

इसी बीच रानी की सेनानायक कुइली ने मन्दिर के दीपक को बुझाकर उसका घी अपने ऊपर डाल लिया और आग लगा ली क्योंकि कुइली को पता था कि मन्दिर के पास ही अंग्रेज़ों का शस्त्रागार है। वह ज्वाला की भाँति अंग्रेज़ी सिपाहियों से लड़ती हुई मन्दिर के अंदर प्रवेश कर गईं। जब तक अंग्रेज़ सिपाही कुछ समझ पाते तब तक वह शस्त्रागार राख का ढेर बन गया। उधर रानी को जब यह ज्ञात हुआ कि कुइली अपने प्राणों की आहुति देकर अंग्रेज़ों के शस्त्रागार को नष्ट कर दिया है तो उन्होंने दोगुने जोश और शक्ति से आक्रमण कर दिया और अंग्रेज़ों को परास्त कर दिया।

रानी ने अपना राज्य वापस ले लिया। रानी वेलु ने भारतीय इतिहास में वीरता का वह अध्याय लिखा जो और कोई न कर सका। उन्होंने अपने दृढ़संकल्प और इच्छाशक्ति के बल पर अंग्रेज़ों के स्वाभिमान को मिट्टी में मिला दिया। इसी कारण अंग्रेज़ों ने रानी वेलु के बारे में लिखित रूप में कुछ नहीं रखा। रानी वेलु ने स्त्री होते हुए भी वह वीरता दिखाई और अंग्रेज़ों को शिकस्त दी जो इतिहास में अतुलनीय है। उन्होंने अंग्रेज़ों के आगे कभी घुटने नहीं टेके। अंग्रेज़ों से राज्य पाने के पश्चात रानी वेलु ने लगभग एक दशक तक राज किया।

25 दिसम्बर सन् 1796 ई. को रानी वेलु नाचियार की मृत्यु हो गई परन्तु अपनी महानता और वीरता के लिए वह वीरमंगई आज भी हमारे लिए स्वाभिमान एवं वीरता का प्रतीक बनी हुई हैं। □

हिन्दी में हास्य-रस

सत्यवती

साहित्य और समाज का आपस में अविच्छेद्य सम्बन्ध होता है और यही कारण है कि मनुष्य के जीवन में हमें जिस प्रकार तरह-तरह के भाव दिखाई देते हैं उसी प्रकार साहित्य में भी उनकी अभिव्यक्ति होती रहती है। विभिन्न भाव ही पुष्ट होकर रस रूप धारण कर लेते हैं। भारतीय आचार्यों ने इस विषय पर बहुत विचार किया है और साहित्य में आने वाले रसों का वर्गीकरण किया है। 'पृथ्वीराज रासो' आदि प्राचीन वीर-काव्यों तक में इस रस का पर्याप्त समावेश हुआ है।

कबीर ने तो इस रस को निराले ढंग से ही अपनाया है। शिक्षा और उपदेश की बातों को हृदयंगम कराने के लिए भी उन्होंने हास्य को अपनाया है। उन्होंने एक स्थान में कहा है—'अरे इन दोउन राह न पाई।' आपने हिन्दू और मुसलमान दोनों की मीठी चुटकी ली है—

'पाहन पूजे हरि मिलैं, तो मैं पूजूँ पहार
ताते यह चाकी भली पीसि खाइ संसार।'

मूर्ति-पूजा का तो खंडन इस प्रकार किया ही गया है, उन्होंने मस्जिद के विषय में भी ऐसे ही वाक्यों का प्रयोग किया है—

'कंकर पाथर जोरि के, मस्जिद लई चुनाय
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, बहरा हुआ खुदाय।'

अर्थात् स्थान-स्थान पर आपके लिखे हास्य-रस के अनेकों उदाहरण मिलेंगे। हास्य की दृष्टि से खुसरो की मुकरियाँ और पहेलियाँ भी विस्मरणीय नहीं। मुकरियों का एक नमूना देखिए—

'टट्टी तोड़ के घर में आया,
अरतन-बरतन सब सरकाया,
खा गया पी गया दे गया बुत्ता
ए सखि साजन, ना सखि कुत्ता।'

सूरदास जैसे भक्त कवि ने भी अपनी रचना में हास्य को पर्याप्त स्थान दिया है। कबीर अपने प्रभु कृष्ण से प्रेमपूर्ण-भक्तिमय हास्य करने से नहीं चूकते। अष्टछाप के आठों कवियों के दरबार में काव्य-चर्चा के समय कितने कहकहे लगते होंगे, इसका तो अनुमान लगाना भी कठिन है। सूरदास कृष्णजी के मुख से कहलाते हैं—

'ग्वाल-बाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायो,
मैय्या मैं नहिं माखन खायो।'

महाकवि तुलसीदास ने हास्य-रस का समावेश अपनी रचनाओं में किया है। यही नहीं, अकबर के नवरत्नों में प्रसिद्ध बीरबल बड़े विनोदी थे। उनकी उक्तियों और चुहल की प्रशंसा सभी हृदय से करते हैं। फत्तियों पर बड़े-बड़े दरबारों में आज भी हँसी की फुहारें चल पड़ती हैं।

केशवदास, रहीम, बिहारी आदि की रचनाएँ भी हास्य-रस से

अलंकृत हैं। 18वीं शताब्दी में प्रीतम कवि ने 'खटमल बाइसी' नामक पुस्तक लिखी थी। हास्य-रस की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में यह प्रथम उल्लेखनीय ग्रन्थ है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रायः साहित्य के प्रत्येक अंग पर प्रकाश डाला है। हास्य के तो वे विशेष प्रेमी थे। होली आदि के अवसरों पर वह हास्य की सामग्री बड़े शौक से एकत्र करते थे। उन्होंने 'चना जोर गरम' और 'चूरन बड़ा मसालेदार' के नमूने के अनेकों लटके बनाए थे जिससे वे स्वयं हँसते थे और सबको हँसाते थे।

पण्डित प्रतापनारायण मिश्र की रचनाएँ तो हास्य-रस से सराबोर होती थीं। अपनी 'बुढ़ापा' शीर्षक कविता में मिश्रजी ने वैराग्य की ओर ले जाने वाले 'बुढ़ापा' जैसे विषय को हास्य का विषय बनाकर अपनी कलाकुशलता का अच्छा परिचय दिया। उनके लिखे गद्य और पद्य दोनों ही व्यंग्य से परिपूर्ण हैं। उन्हें तो बस पढ़ते जाइए, कभी तृप्त न होंगे, न छोड़ने को मन ही चाहेगा।

कविता कामिनी कान्त नाथूराम की 'वायस विजय' में हास्य-रस पर्याप्त रूप में है। वह अपनी ग्रामीण भाषा में हास्य-रस कविता करते थे। हास्य की बानगी देखिए—

'ठेके पर लेकर वैतरणी, देकर दाढ़ी-भूँछ
वाटर बाइसिकिल के द्वारा, बिना गाय की पूँछ।'

अर्वाचीन कवियों में हास्य-रस के विभिन्न प्रकार के लेखक मिलते हैं जिनमें एक श्रेणी ऐसे लेखकों की है जो हास्यजनक नामों के द्वारा हास्य की सृष्टि करते हैं। जे.पी. श्रीवास्तव इस प्रकार के प्रमुख लेखकों में से हैं, उनका हास्य साधारण जनता के लिए है। सामाजिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों के विरुद्ध उन्होंने हास्य के अमोघ अस्त्र का प्रयोग किया है।

दूसरे लेखक वे हैं, जिनका हास्य सोद्देश्य और शिक्षाप्रद होता है, साथ ही एक विशेष प्रकार का हर्ष, आनन्द, मस्ती और गुदगुदी उत्पन्न करने वाला होता है। इस प्रकार के लेखकों ने जनता की ही भाषा में लिखा है। महाकवि चच्चा की रचनाएँ इसी कोटि की हैं—

'पिल्ला लीन्हें गोद में, मोटर भई सवार,
अली भली ढूँढने चलीं, किए समाज-सुधार
किए समाज-सुधार, हवा योरप की लागी,
शुद्ध विदेशी चाल, ढाल सों मति अनुरागी
मियाँ मचावें शोर, करें अब तोबा तिल्ला,
पुत्र धाय की गोद, खिलावें बीबी पिल्ला।'

कला की दृष्टि से हरिशंकर शर्मा का लिखा हुआ 'चिड़िया घर'

उत्कृष्ट है। सुनिए उनके 'करम फोड़ कम्बख्त राय' क्या रोना रो रहे हैं—

'लेकर कर्ज किया व्यापार, बेचें बिस्कुट, सेब-अनार,
किए न लोगों ने पेमेन्ट, घाटा सहा सेन्ट-परसेन्ट।'

पण्डित बदरीनाथ भट्ट ने भी इस ओर लेखनी उठाई और इसमें बहुत सफल हुए हैं। उन्होंने 'विवाह', 'विज्ञापन', 'मिस अमरीकन' आदि प्रहसन लिखे। हास्य-रस के साहित्य में 'दुबेजी की चिट्ठियाँ' अमर हैं। चुहचुहाता हास्य और उसमें समाज सुधार का पुट तथा शिक्षा की मृदु भावनाएँ-सोने में सुगन्ध इसी का तो नाम है। बाबू अन्नपूर्णानन्द भी हास्य के इने-गिने प्रसिद्ध लेखकों में से हैं। 'मेरी हजामत' और 'ब्राह्मण भोजन' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। निराला हिन्दी के अच्छे हास्य-लेखकों में हैं। यद्यपि हास्य-लेखक के रूप में वे कम विख्यात हैं। काशी के चोंचजी की भी रचनाएँ उत्कृष्ट हैं। काशी के बेधड़कजी समय के अनुकूल चुभती हुई रचनाएँ लिखने में बड़े कुशल हैं। गोपाल प्रसाद व्यास ने आधुनिकता के पीछे पागल होने वालों की अच्छी खबर ली है।

आधुनिक गद्य लेखकों में कुछ लेखकों ने हास्य-रस की रचना में अच्छी विशेषता प्राप्त की है। राधाकृष्ण एवं जहूर बख्श हास्य की अच्छी कहानियाँ लिखते हैं। प्रभाकर माचवे के लेख भी अपने ढंग के बहुत ही अच्छे होते हैं।

हिन्दी में हास्य-रस की अनेक पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होती रही हैं। इनमें 'मतवाला' स्मरणीय है। इसके बन्द होने पर इस प्रकार का

ऐसा अच्छा दूसरा पत्र हिन्दी जगत् में नहीं निकला। शिवपूजन सहाय, नवजादिक लाल श्रीवास्तव तथा बेचन शर्मा उग्र आदि इसके सम्पादक मण्डल में थे। इस पत्र ने हास्य की रचनाएँ ही नहीं दी अपितु बहुत से नए हास्य-लेखक भी पैदा किए। इस समय 'मदारी', 'नोकझोंक' और 'निराला' हास्य-रस के पत्रों में उल्लेखनीय हैं। अन्य पत्रों में भी हास्य के कॉलमों द्वारा पाठकों का अच्छा मनोरंजन हो जाता है। 'आज', 'संसार', 'सन्मार्ग', 'विश्वमित्र', 'देशदूत', 'योगी' आदि पत्रों में इस प्रकार की अच्छी सामग्री मिल जाती है।

रामेश्वर 'करुण' के निधन से हिन्दी में एक ऐसे उत्कृष्ट कोटि के हास्यकार और व्यंग्यकार का अभाव हो गया है जिसकी पूर्ति कठिन है। लबार लाहौरी के नाम से उन्होंने हास्य-रस की अच्छी सामग्री दी है। राजनैतिक विषयों पर तो उनकी रचनाएँ बहुत ही मर्मस्पर्शी होती थीं। इनके अतिरिक्त बेहब बनारसी, बंसीधर शुक्ल, जयनाथ नलिन आदि साहित्यिक अपनी हास्य-रस की रचनाओं के लिए विख्यात हैं।

हास्य-रस के ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी में भी हुआ है। लक्ष्मण स्वरूप द्वारा अनुवादित मोलियर का 'बनिया चला नवाब की चाल', धन्यकुमार जैन द्वारा अनूदित परशुराम के 'भेड़िया धसान' और 'लम्बकर्ण' हास्य-रस के अच्छे ग्रन्थ हैं।

फिर भी यह तो स्पष्ट है कि हिन्दी में अभी हास्य-रस की रचनाओं की जितनी आवश्यकता है उसकी पूर्ति नहीं हो रही है और इस क्षेत्र में अभी विकास की बहुत अधिक अपेक्षा है। □

मैं अपनी अनास्था में अधिक...

पृष्ठ 44 से आगे...

यहाँ कुँवर नारायण जिस पूर्णता की बात कर रहे हैं दरअसल यह मनुष्यता के 'अंतःकरण के आयतन' के विस्तार के लिए बेहद आवश्यक है। इस कविता की व्याख्या करते हुए आलोचक कृष्णमोहन 'भूखी शेर-आँखों', 'जगह-बेवजह कुचला पड़ा पिद्दी-सा जानवर' को कविता की उदात्तता के लिए बाधक मानते हैं और यह दृश्य उन्हें 'शहरीकरण और यान्त्रिकता की अंधी दौड़ की चपेट में आकर लुप्त होते जीव-जन्तुओं के प्रति कवि की करुणा और मृत पड़े जीव की निरुपायता कवि के मन में वितृष्णा जगाने वाली प्रतीत होती है। किन्तु इसी कविता की अंतिम पंक्ति पर उनका ध्यान नहीं जाता। दरअसल, कुँवर नारायण इस कविता में जिस मनुष्य के लौटने की बात करते हैं और जिस मनुष्य को कृष्णमोहन अपनी आलोचना में उद्धृत कर रहे हैं, वह दो अलग-अलग मनुष्य-स्थितियाँ हैं। जिस ओर कृष्णमोहन संकेत कर रहे हैं वह पहला मनुष्य है, जिसके लिए भूखी आँखों वाले शेर के द्वारा आहार करना भी पहले मनुष्य के लिए क्रूरता है और हताहत जीव के प्रति भी उसके मन में करुणा नहीं है किन्तु कुँवर नारायण जिस मनुष्य की वापसी की बात कर रहे हैं वह अधिक मनुष्य है क्योंकि उसके लौटने में पुनरागमन का वही भाव है जो कुँवर नारायण की कृति 'वाजश्रवा के बहाने' में नचिकेता के जाने के बाद वाजश्रवा के पश्चाताप में है। इस कविता में भी देखें तो यह लौटना किसका है? कौन और किन स्थितियों में लौट रहा है? कुँवर नारायण बहुत स्पष्टता से कहते हैं, अबकी बार लौटा तो हताहत नहीं सबके हिताहित को सोचता पूर्णतर लौटूँगा। गालिब के

शब्दों में, "आदमी को भी मयस्सर नहीं इँसाँ होना" की तर्ज पर कुँवर नारायण के यहाँ यह लौटना अधिक मनुष्यत्व की ओर लौटना है। असल में कुँवर नारायण के यहाँ यह लौटना अपूर्णता से पूर्णता की यात्रा है। यान्त्रिकता (भौतिकता) से आध्यात्मिकता (धार्मिक अर्थों में नहीं) की ओर लौटना है। यह 'लौटना' एक अमूल्य अवसर है। अपनी भूलों को सुधारने का। 'पछतावा', 'पुनरागमन' जैसे शब्द 'वाजश्रवा के बहाने' में हैं किन्तु 'लौटना' शब्द का दोहराव भी यही भाव यहाँ व्यंजित कर रहा है। यहाँ आशा-निराशा के बीच कोई द्वन्द्व नहीं बल्कि अपनी पूर्णता के प्रति एक आत्मिक आत्मविश्वास है। सम्वाद का एक अवसर है—

'तुमसे फिर मिलना / एक नया अवसर है / कि जारी रहे वह सम्वाद / जो बीच ही में छूट गया था अधूरा'।

कुँवर नारायण 'कई समयों' के रचनाकार हैं। इतिहास और मिथक के अंतःस्तल में गोते लगते हुए अपने समकालीन यथार्थ को भी अपना सहचर बनाए रखने से उनकी कविताएँ कालातीत बन जाती हैं। इन कविताओं की चिन्ता में अंततः और प्रथमतः जो समस्याएँ सम्बोधित हुई हैं, वह मनुष्य एवं मनुष्यता की चिन्ता में संलग्न हैं। सहजता, कवित्व, भावनाएँ और बौद्धिकता कुँवर नारायण की रचनाशीलता के केन्द्र में हैं। मनुष्य की विभिन्न क्षमताओं की तलाश और उन्हें परिष्कृत करने की जिद, असहमति को अवसर और सहिष्णुता को आचरण देती कुँवर नारायण की कविता पूर्णता की तलाश की कविता है। □

अवदानों पर दृष्टि

राकेश कुमार सिंह



किसी पत्रिका का प्रवेशांक सामान्यतः अपनी उपस्थिति अंकित करता है, किन्तु अपनी उपस्थिति से ही वह अपनी ओर लोगों का ध्यान हठात् आकर्षित करने लगे, तो यह उस पत्रिका के दीर्घ एवं मुक्तिगामी होने का संकेत है। 'देशधारा' के माध्यम से भरत प्रसाद ने यह शुभ संकेत किया है। पत्रिका में उप-सम्पादक के रूप में सहयोगी सुनील कुमार साव व आलोक सिंह का सहयोग भी 'लाघ्य' है। बढ़ते बाजारवाद एवं बाजार तन्त्र के प्रभाव से जीवन शुष्क व यान्त्रिक होता जा रहा है, जिसने कला और चिन्तनशीलता को बुरी तरह प्रभावित किया है। 'देशधारा' इस समय के प्रतिरोध में सशक्त हस्तक्षेप है। सम्पादक की चिन्ता किसी बिन्दु विशेष पर कीलित नहीं है, अतएव साहित्य व कला की वृहत् परिधि उसकी चिन्तना में शामिल हैं। पत्रिका कई उपखंडों में विभाजित है। प्रथम खंड 'अपनी खबर' है जिसमें समकालीन हिन्दी के तीन लेखकों के आत्मवृत्त का अंश है। 'ऊहापोह' शीर्षक से लेखिका तसलीमा नसरीन का आत्मवृत्तांश प्रकाशित है जिसकी अनुवादिका हैं अमृता बोरा। इसमें दाम्पत्य जीवन का क्रूर यथार्थ वर्णित है।

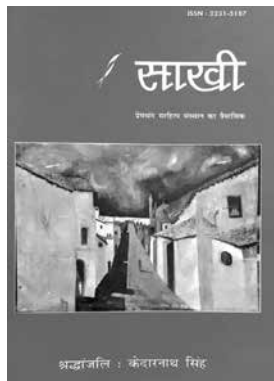
दूसरा आत्मवृत्तांश सम्पादक-लेखक अनन्त कुमार सिंह का है। इसमें अपनी यादों के माध्यम से लेखक ने अपने साथ-साथ ग्रामीण जीवन के बदलते परिवेश का सुन्दर बिम्बन किया है। उच्च शिक्षा में नियुक्तियों को लेकर धाँधली, आरा का साहित्यिक परिवेश, जनवादी लेखक संघ का अनुभव और रामनिहाल गुन्जन, बद्री नारायण, निलय उपाध्याय, चन्द्रशेखर, नीलोत्पल रमेश, बलभद्र कुमार नयन, मधुकर सिंह, सुभाष शर्मा जैसे साहित्यिक मित्रों के साथ साहित्यिक जीवन-यात्रा का सुन्दर बिम्बन है। यहीं से लेखक की 'कहानी लेखन' यात्रा शुरू होती है जो क्रमशः लम्बी होती जाती है। प्रकाशित आत्मवृत्तांश में कहीं भी न भाषा का शैथिल्य है और न ही अनुभूतियों की बुनावट विरल हुई है। इस उपखंड का अंतिम आत्मवृत्तांश है प्रख्यात कवि-सम्पादक सुभाष राय का 'खतरों से ही जन्म लेते हैं सपने'। लेखक ने अपने कवि-जीवन के मधु-तिक्त अनुभवों को पूरी आनुभूतिक सान्द्रता

के साथ व्यक्त किया है। दूसरा उपखंड 'सम्यक दृष्टि' आलोचना से सम्बद्ध है जिसमें सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों तरह की आलोचनाएँ हैं। प्रख्यात आलोचक मैनेजर पाण्डेय, विनोद शाही, सेवाराम त्रिपाठी, बजरंग बिहारी तिवारी व सुशील कुमार इस उपखंड के लेखक हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काव्य-दर्शन शीर्षक आलेख में मैनेजर पाण्डेय ने यह स्वीकार किया है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी, रामविलास शर्मा व नामवर सिंह आदि में 'कविता के दार्शनिक' केवल रामचन्द्र शुक्ल ही हैं। आलेख अपेक्षाकृत छोटा होने के बावजूद गम्भीर है। 'भाषा की ज्ञान-मीमांसा' भी अपने गाम्भीर्य के कारण अवलोकनीय है। विनोद शाही ने भारतीय व पाश्चात्य भाषा-चिन्तन की दृष्टि से गम्भीर विवेचन किया है। सेवाराम त्रिपाठी ने प्रख्यात कवि 'चन्द्रकान्त देवताले की कविताओं में जन पक्षधरता' का विवेचन-विश्लेषण किया। 'मुक्ति आंदोलनों की पारस्परिकता : वाम दलित सन्दर्भ' शीर्षक गम्भीर आलेख में बजरंग बिहारी तिवारी ने न केवल गम्भीर विश्लेषण-विवेचन किया है बल्कि तथ्यों की दृष्टि से भी कई महत्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं। 'साहित्य में सामाजिक चेतना और मार्क्स' शीर्षक आलेख में सुशील कुमार ने एक महत्वपूर्ण बिन्दु की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए लिखा है कि 'अब तक साहित्यिक सारे का कुफल यही रहा कि जिन अभिजनवादी साहित्यकारों ने सामाजिक सुख-दुःख का बिना अनुभव किए केवल आत्मचेतना के आधार पर रचा है, वह एकनिष्ठ होकर अभिजन आनन्दवादी साहित्य की श्रेणी में चला गया है। वह 'टिपिकल' रचना बनकर रह जाती है।

तीसरा महत्वपूर्ण उपखंड गद्यान्तर है। उसमें डायरी, संस्मरण आदि हैं। इसमें 'एक कवि की नोटबुक' (राजेश जोशी), 'डायरी में आलोचना' (राजेन्द्र कुमार), 'मसाईपाटा के जंगल' (शिवमूर्ति), 'माँ, पिता और मैं' (दिवाकर मुक्तिबोध) शीर्षक सामग्री है। डायरी में लिखी गई राजेन्द्र कुमार की टिप्पणियाँ उस कालखंड के साहित्यिक परिवेश एवं सामाजिक परिस्थितियों की समझ की नई दृष्टि देती हैं। शिवमूर्ति के संस्मरण में कहानी जैसी ही सरसता है। 'माँ, पिता और मैं' दिवाकर मुक्तिबोध का अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्करण है। 'दृश्यपट' उपखंड में 'महाभारत और सिनेमा' शीर्षक विजय शर्मा का महत्वपूर्ण आलेख है। 'देशरमाटी' के अंतर्गत बांग्ला व गुजराती कविताओं का अनुवाद है। 'पूर्वाकाश' शीर्षक उपखंड में पूर्वोत्तर केन्द्रित सामग्री है। 'आबू जीसु'

(अभिषेक कुमार यादव) में अरुणाचल प्रदेश के धार्मिक परिदृश्य और अंतर्विरोधों का प्रामाणिक विश्लेषण है। इस खंड में जुमना बीनी व तुनुड नाविड़ द्वारा अनूदित अरुणाचली जनभाषाओं की कविताएँ हैं। 'कथागोई' शीर्षक उपखंड में कहानियाँ हैं। 'कामा' (कृष्ण बिहारी), 'दो कौड़ी का आदमी' (राकेश कुमार सिंह), 'मुखौटा' (गीता श्री) और 'हवा बहुत तेज़ है' (कैलाश बनवासी) जैसी कहानियाँ इस अंक को समृद्ध बनाती हैं। 'काव्य क्षितिज' के अंतर्गत इस समय के प्रमुख कवियों की कविताएँ हैं। अपने कवि-काव्य के कारण शायद रचनाकार ने कुछ अधिक सामग्री का चयन कर लिया है। 'परिचर्चा' के अंतर्गत तात्कालिक सामाजिक - राजनैतिक मुद्दों पर विचार है। इसमें किसान आंदोलन (कौशल किशोर) और अरुण शीतांश का वक्तव्य है। अंत में 'आरपार' उपखंड के अंतर्गत पुस्तक समीक्षा है।

'साखी' का रहीम अंक विशेष अवलोकनीय है। यद्यपि इस अंक में पूर्ण प्रकाशित आलेख अधिक हैं। और उन लेखों पर चर्चा भी हो चुकी



है किन्तु एक ही स्थल पर इन आलेखों का संग्रह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। राहुल सांकृत्यायन, शमशेर बहादुर सिंह, विद्यानिवास मिश्र, समर बहादुर सिंह, सत्यप्रकाश मिश्र, सुरेन्द्रनाथ तिवारी, नामवर सिंह, हरी त्रिवेदी, सदानन्द शाही, अनामिका, रूपर्ट स्नैल, उदय शंकर दुबे, मधुप कुमार, दीपा गुप्ता, विजय बहादुर सिंह व उमेश प्रसाद सिंह आदि महत्वपूर्ण लेखकों के आलेखों के अतिरिक्त रहीम की रचनाओं से कुछ चयन भी हैं जो रहीम रचनाओं से अल्प-परिचित पाठकों के लिए अधिक उपयोगी जान पड़ते हैं। समीर कुमार पाठक ने हरीश त्रिवेदी के सम्पादन में प्रकाशित पुस्तक 'अब्दुरहीम खानेखाना : काव्य-सौन्दर्य और सार्थकता' को स्वागत योग्य बताते हुए पुस्तक में विद्यमान अनेक अंतर्विरोधों को तथ्य एवं तर्क के साथ रेखांकित किया है। ऐसे आलेख आने वाली आलोचक पीढ़ी को नैतिक साहस एवं विवेक प्रदान करते हैं।

'बनास जन' का अंक 53 मध्यकालीन आख्यान से सम्बद्ध है। इसमें मध्यकालीन और आधुनिक साहित्य, विशेषकर कविता के



विशेषज्ञ माधव हाड़ा ने कुछ प्राचीन व मध्यकालीन आख्यानों के कथासार उपस्थित करने के साथ-साथ उन पर अपने महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किए हैं। मध्यकालीन आख्यान काव्य जिज्ञासुओं के लिए यह अंक अत्यन्त उपयोगी है। सामान्य पाठक भी इसमें रुचि लेंगे, ऐसी आशा है। अंक 54 में इस समय के महत्वपूर्ण उपन्यासों पर कुछ युवा और कुछ बहुपरिचित पुराने लेखकों द्वारा समीक्षा है। यह अंक साहित्य की धमनियों के वर्तमान प्रवाह को समझने में बहुत सहायक होगा। इसी प्रकार 'बनास जन' के अंक 55 में इस समय के चर्चित नाटकों पर समीक्षात्मक सामग्री है। इसमें प्रथम समीक्षित

नाटक है असगर वजाहत का 'महाबली'। अन्य समीक्षित नाटकों में 'जानत तुलसीदास', 'तमाशा न हुआ', 'कथा शकुन्तला की', 'चौबोली', 'गांधारी', 'घर वापसी', 'एक मामूली आदमी', 'बर्फ', 'प्रेम', 'पॉलिटिक्स', 'रंग सृजन' आदि हैं।

'समय के साखी' जनवरी, 2022, का अंक 'रसूल हमजोतोव के 'मेरा दागिस्तान' पर केन्द्रित है। सम्पादक आरती ने श्रमपूर्वक रसूल हमजोतोव पर आलोचनात्मक सामग्री इकट्ठी की है। पत्रिका दो खंडों



में है। प्रथम खंड में रसूल पर राजेश जोशी, वसंत त्रिपाठी, अनुराधा सिंह, राकेश मिश्र, यादवेन्द्र पाण्डेय, मनोज कुलकर्णी आदि के लेख हैं। दूसरे खंड में 'मेरा दागिस्तान' का प्रथम खंड है। यह सम्पादक का अपना विवेक है, अन्यथा सामान्य पाठक रसूल हमजोतोव पर और अधिक आलोचनात्मक सामग्री की अपेक्षा करते हैं। बजाय लेखक की पूरी पुस्तक (प्रथम खंड) के कारण कि यह

पुस्तक मूल व अनूदित उपलब्ध है। जहाँ तक प्रथम खंड का प्रश्न है लगभग समस्त आलेख अच्छे हैं। बसंत त्रिपाठी ने 'मेरा दागिस्तान' को कवि-शिक्षा की किताब कहा है जिसे लगभग सभी साहित्य प्रशिक्षुओं को पढ़ना चाहिए। अनुराधा सिंह ने 'मेरा दागिस्तान' के बहाने रसूल हमजोतोव की भाषा पर अपना मत व्यक्त किया है। राकेश मिश्र ने 'मेरा दागिस्तान' को 'राष्ट्रभक्ति के खिलाफ देशप्रेम का आख्यान' बताया है। मनोज कुलकर्णी का आलेख भी हमारा ध्यान विशेषरूप से आकृष्ट करता है जो पत्रिका के मूल्यांकन खंड का अंतिम आलेख है।

बहुधा कुछ पत्रिकाएँ झंझा की तरह आती हैं और वातावरण को तात्कालिक रूप से आंदोलित करके स्वयं शान्त हो जाती हैं किन्तु



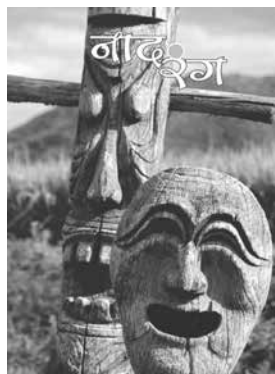
कुछ निरन्तर अपनी गुणवत्ता पर कायम रहती हैं। 'मगध' के द्वितीय अंक को देखकर यह विश्वास प्रबल होता दिखाई देता है कि पत्रिका न केवल मानक को बनाए रखेगी वरन् उसमें निरन्तर विकास होगा। जुलाई, 2022, अंक-2 के प्रारम्भिक पृष्ठ पर श्रीकांत वर्मा की कविता छपी है। 'बन्धुओ! यह वह मगध नहीं! तुमने जिसे पढ़ा है/ किताबों में/ यह वह मगध है/ जिसे तुम मेरी तरह/

गवाँ चुके हो।' सम्पादक के सारगर्भित सम्पादकीय के बाद प्रख्यात इतिहासकार लालबहादुर वर्मा से मनोज मोहन का साक्षात्कार प्रकाशित है। इस साक्षात्कार में प्रथम प्रश्न उनके आत्मकथा लिखने की प्रेरणा से सम्बन्धित है। यह साक्षात्कार 2014 के उपरान्त का है जिसे 'मगध' में प्राथमिक स्थान मिला है। 2014 में कुछ ही दिनों बाद किए गए इस साक्षात्कार में ऐसे बहुत से तथ्य हैं जो आज भी प्रासंगिक हैं और भविष्य में भी प्रासंगिक रहेंगे। लालबहादुर वर्मा पेरिस को कला का मक्का बताते हैं। वास्तव में वहाँ कला की एक परम्परा है जो सदियों से चली आ रही है। लगभग चार-पाँच सौ साल से यानी आधुनिक काल से राजा, सामंत

ही नहीं, आम जनता भी कला की संरक्षक है। उर्दू के दो साहित्यकार शमसुर्रहमान फ़ारूकी व शमीम हन्फ़ी को श्रद्धांजलि देने के उपरान्त सफ़दर इमाम क़ादरी ने उर्दू के प्रख्यात आलोचक गोपीचन्द नारंग के अवदानों की विस्तार से चर्चा की है। कोरोना के दौरान ही उनका निधन हो गया था। कमलानन्द झा ने नक्सलवाद की पृष्ठभूमि पर लिली रे के मैथिली उपन्यास 'पटाक्षेप' की विस्तृत चर्चा की है। लिली रे उन लेखकों की अग्रिम क़तार में खड़ी हैं जिन्होंने मैथिली साहित्य के सीमित और पारम्परिक विषयवस्तु के दुर्ग को तोड़ने में सफलता हासिल की है। इस उपन्यास में नक्सलवाद ही नहीं, छद्म नक्सलियों के वास्तविक चेहरे को भी अनावृत किया गया है।

'पटाक्षेप' की कथावस्तु 70-80 के बीच के कालखंड पर केन्द्रित है जो नक्सलवादी आंदोलन का चरम काल माना जाता है। इसमें कथा-विन्यास के नाम पर कुछ घटनाओं का कोलाज है। नक्सलवादी आंदोलन की पृष्ठभूमि पर 'पटाक्षेप' अद्भुत व अद्वितीय उपन्यास है। इस पत्रिका में प्रकाशित कमलानन्द झा का आलेख 'पटाक्षेप' को पढ़ने-समझने के विवेक को शाणित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। 'हृदय की अनुकृति' और 'हृदय की मुक्तावस्था' (कमलेश वर्मा) व 'रचनाकार का आलोचक होना' (निशान्त) महत्वपूर्ण आलेख है। कहानियों में 'बेड़ियाँ' (प्रभात प्रणीत) व 'एक गिद्ध का इंतज़ार' (फ़रज़ाना मेहंदी) विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती हैं। अंत में ऋषिकेश सुलभ के उपन्यास 'अग्निनीक' और 'दातापीर' की समीक्षा है। पंकज पराशर ने उपन्यास के उन मर्मों को उभारने की पर्याप्त चेष्टा की है जो इस आलेख के न होने से सामान्य पाठकों की दृष्टि से ओझल हो सकते थे। पत्रिका का अंतिम आलेख है 'कर्बला-दर-कर्बला' (लेखक गौरीनाथ) का विश्लेषण। सूर्यनारायण रणसुभे ने इसे 'उम्मीद की ज़मीन तैयार करने वाला उपन्यास' बताया है। रणसुभेजी ने उपन्यास की अंतर्वस्तु की गम्भीर विवेचना की है।

'नादरंग' का अंक-6 कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। नृत्य, कला व संगीत को समर्पित यह पत्रिका नृत्य, कला व संगीत की उपलब्धियों से परिचय तो कराती ही है साथ ही कला, संगीत के अतीत के कई उलझे रहस्यों का उद्घाटन भी करती है। इस अंक में सम्पादकीय के उपरान्त चाँद का विजयशंकर मिश्र के साथ साक्षात्कार है। गिरिधर चाँद विख्यात कथक-नर्तक हैं और विजयशंकर मिश्र संगीत जगत के जाने-माने मर्मज्ञ। साक्षात्कार के दौरान संगीत घरानों के आपसी आग्रह-दुराग्रहों का उल्लेख करने के साथ-साथ इस तथ्य की स्वीकृति 'कि महत्व कथक के विकास का है, घरानों के आपसी झगड़े का नहीं' संगीत के महत् उद्देश्य को प्रकट करता है। नृत्य जगत के अनेक तथ्यों से अवगत कराते हुए उन्होंने कथक के विकास का मार्ग आलोचित किया है। 'भरेवा के दीपक में बची रही लै' में जयप्रकाश चौहान ने बैतूल की भरेवा नाम की कला का विश्लेषण किया है। यह कोरकू और गोंड जनजाति द्वारा एक लम्बे समय से की जाती रही है जिसकी बनावट, सुन्दरता और कार्यशैली इस कला को



अन्य धातुशिल्प से पृथक् करती है। नलिनी कुमार मिश्र का संस्मरण भी कला जगत के कई रहस्यों को उद्घाटित करता है। ईश्वर प्रसाद गुप्त ने चित्रकला व मूर्तिकला से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण बारीकियों एवं तद्विषयक अपनी जीवनानुभूतियों को व्यक्त किया है। जयकृष्ण अग्रवाल, श्याम शर्मा, गौरी सरोज पॉल, रागिनी उपाध्याय, वी. राजीव नयन, आलोक कुमार आदि के आलेख संगीत, कला और नाटकी अनेक विशेषताओं परिचित कराते हैं।

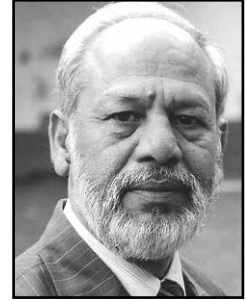
'माटी' समकालीन कहानी के बदलते स्वर और शिल्पगत परिवर्तन का प्रामाणिक विश्लेषण है। इस अंक के अतिथि सम्पादक



शशिभूषण मिश्र हैं जो पहले से इस पत्रिका से जुड़े हैं। पत्रिका चार खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में नए-पुराने कहानीकारों की कहानियाँ हैं जिनमें संदीप मील, रश्मि शर्मा, प्रेम रंजन अनिमेष, सोनी पाण्डेय, शेखर मल्लिक, श्रद्धा बवाइत, टेकचंद, प्रदीप जिलवाने, निधि अग्रवाल, दिव्या विजय, शहादत, अनामिका अनु। साक्षात्कार खंड में सम्पादक शशिभूषण मिश्र ने कथाकार कविता का साक्षात्कार लिया है। साक्षात्कार में कहानी की प्रक्रिया, परिवेश और आत्मसंघर्ष के कई पक्ष उभरे हैं। तृतीय खंड मूल्यांकन खंड है। उसमें विजय कुमार, रोहिणी अग्रवाल, राकेश बिहारी, अर्चना त्रिपाठी, स्मृति शुक्ला, विवेक श्रीवास्तव, हरियश राय, अंकिता तिवारी, श्रुति कुमुद और अम्बरीश त्रिपाठी के आलोचनात्मक आलेख हैं जिसमें समकालीन कहानी के यथा के आयतन का पूरा-पूरा परिचय मिलता है। समकालीन कहानी में अभिरुचि रखनेवालों के लिए यह अंक आवश्यक सन्दर्भ है। इसके अंतिम खंड में रश्मि रावत, मीना बुद्धिराजा, अल्पना सिंह, कुमार सुशांत, शुभम मोंगा व प्रसिद्ध कथाकार बलराम के आलेख हैं। ये समस्त आलेख 21वीं सदी की हिन्दी कहानी के अनेक स्वरों को समझने में सहायता करते हैं। शिल्पगत परिवर्तन, सामाजिक सन्दर्भों की स्वीकृति और कहानी में उनके विनियोग को समझने में इस खंड का महत्वपूर्ण योगदान है।



'संवदिया' अररिया, बिहार से मांगना मिश्र 'मार्तण्ड' और लव कुमार के सम्पादन में निकलने वाली साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका है। इसका अप्रैल-जून, 2022 दोहा पर केन्द्रित अंक है। इसमें देश के प्रमुख समकालीन कवियों के दोहों का संचयन है। दोहों से सम्बन्धित आलोचनात्मक आलेख भी हैं। अंक 04 जुलाई-सितम्बर 2022 में आलोक धन्वा पर पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु का आलेख 'बहुचर्चित-अचर्चित कवि आलोक धन्वा' विशेष ध्यातव्य है। शहरी सुविधाओं से दूर रहकर भी निजी साधनों से पत्रिका निकालना प्रशंसनीय है।



सुलगते वर्तमान की उत्तप्त गज़लें

हरराम समीप

आपातकाल के दौरान आई दुष्यंत कुमार की गज़लों के बाद जिन हिन्दी गज़लकारों ने अत्यधिक प्रभावित किया है, उनमें माधव कौशिक प्रमुख हैं। उन्होंने गज़ल जैसी कठिन अनुशासन की विधा को सहज तथा प्रभावपूर्ण शैली में प्रस्तुत कर उसे लोकप्रिय बनाया है। अपनी लम्बी गज़ल-यात्रा में उनके अब तक सतरह गज़ल-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'शब्द ढले अंगारों में' गज़ल-संग्रह हाल ही में प्रकाशित होकर आया है, जिसकी 110 गज़लों की तासीर इसके आवरण पर मुद्रित टिप्पणी के एक अंश से उद्घाटित हो जाती है—

“...‘शब्द ढले अंगारों में’ कई मायनों में उनके पहले के संग्रहों से विशिष्ट है। सामाजिक विसंगतियों, विषमताओं तथा दुराग्रहों से ग्रस्त समसामयिक स्थितियाँ पहले से अधिक चुनौतीपूर्ण हो गई हैं। चारों तरफ़ एक अजीब-सी अफ़रातफ़री का माहौल है। अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद, हिंसा, विघटन, विस्थापन तथा मानव मूल्यों के पतन ने मानव समाज तथा मानवीय मूल्यों को ख़तरे में डाल दिया है। इस संग्रह की गज़लों में रचनाकार ने इन्हीं विषम स्थितियों का अंकन किया और इनके विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर भी बुलंद किया है।

यही वजह है कि समय तथा समाज के ताप और संताप को अभिव्यक्त करते-करते यह शब्द दहकते हुए अंगारों में परिवर्तित हो जाते हैं। रचनाकार की आंतरिक बेचैनी, छटपटाहट तथा व्याकुलता ने इन गज़लों को गज़ब की तुर्शी तथा धारदार तेवर प्रदान किया है। आम आदमी के संघर्ष, उसके सपने, उसकी आशा और निराशा तथा उसके उत्पीड़न और उत्थान की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति इस संग्रह की सबसे बड़ी विशेषता है।

उपर्युक्त टिप्पणी इस संग्रह की गज़लों को समझने में सचमुच हमारे साथ-साथ चलती रहती है। सबसे पहले तो आवरण पर अंकित शीर्षक ही हमारे कौतूहल के अनेक द्वार खोलता नज़र आता है—

‘शायर को मालूम नहीं

शब्द ढले अंगारों में।’

यहाँ गज़लकार अपने वर्तमान से साक्षात्कार करना चाहता है

तो उसके शब्द अंगारों में ढलकर बाहर निकल रहे हैं, जो उसके लिए अप्रत्याशित है। सचमुच आज के विसंगत जीवन की टकराहटें आमजन के मानस में इतना ताप भर रही हैं कि उनको व्यक्त करने वाले शब्द अंगारों की तरह दहक रहे हैं। ऐसी गज़लों के बहाने माधव कौशिक पूरी निर्भीकता के साथ अपने समय के तल्लख यथार्थ से हमें परिचित कराना चाहते हैं, जो बहुत महत्वपूर्ण है। वे अपनी इस अभिव्यक्ति में किसी तरह की बन्दिश को भी स्वीकार नहीं करते हैं—

‘लिखने वाले हर बन्दिश से ऊपर हैं

पहरे में इज़हार हमें मंज़ूर नहीं।’

यह जो उनमें नामंजूरी का साहस है, वही साहस उनकी लीक से अलग गज़लकार की छवि बनाता है, यह वही कबीरा छवि है जो किसी आलोचना की परवाह नहीं करती—

‘हज़ारों दोस्त दुश्मन हो गए हैं

ख़ता इतनी है कि सोचा अलग है।’

इस अलगपन के लिए वे अपने रचनात्मक संघर्ष की यूँ घोषणा भी करते हैं—

‘एहसास को आतिश की भट्टी से गुज़ारेंगे / लफ़्ज़ों को करीने से काग़ज़ पे उतारेंगे।’

अपने एहसास को आतिश की भट्टी से गुज़ारकर लफ़्ज़ों को करीने से काग़ज़ पर उतारना माधव कौशिक के गज़ल-लेखन का अभीष्ट भी है। इस संकल्प में वह सोए हुए लोगों को जगाने को अपना दायित्व समझते हैं—

‘सदियों से सोए लोगों को दोस्त जगाने निकला हूँ / बहते पानी पर जीवन के नक्श बनाने निकला हूँ।’

जीवन के नक्श बनाने के लिए वे समाज के आखिरी छोर पर खड़े सर्वहारा वर्ग के दुख-दर्द से वाबस्ता हैं। शोषित, पीड़ित और वंचित जन के प्रति संवेदना माधव की गज़लों का केन्द्रीय-भाव है, इसलिए अपने इस दायित्व के लिए वे ईश्वर से यह गुज़ारिश करते हैं कि वह उन्हें इतनी शक्ति दे कि वे लोगों की तकलीफ़ को शब्दों में उतारते रहें और सच को सच कहते रहें—



‘खुदा मुझे तौफ़ीक अता कर सबके मन की पीर लिखूँ
मैं अपने हाथों से बहते पानी पर तहरीर लिखूँ।’
प्रत्येक कवि की तरह माधव भी अपनी पहचान की, अपनी
स्वीकार्यता की यूँ कामना करते हैं—

‘आवाजों के इस जंगल में मेरी भी पहचान रहे
टूटे औजारों से छूटे लम्हों की तकदीर लिखूँ।’
यहाँ ग़ज़लकार की प्रतिबद्धता उन छूटे लम्हों की तकदीर लिखने
की है, जो दरख्त के पत्तों की तरह झर रहे हैं—

‘बहुत कोशिश दरख्तों ने भी की थी
मगर हर एक पत्ता झर रहा था।’

माधव यह सब देखकर बेचैन हो जाते हैं कि समाज के जीवन-
मूल्यों का निरन्तर पतन होता जा रहा है और नई विसंगतियों का भयावह
फैलाव होता जा रहा है—

‘अभी भी वक़्त है गाँव में जाकर सूचना दे दो
कि पानी आ गया है आज ख़तरे के निशाँ तक।’

राजनैतिक विद्रूपता का आलम यह है कि झूठ दरबारों में भेष
बदलकर टहल रहा है, जिसके फ़ैसलों से पूरा देश भयभीत है—

‘नए-नए आकारों में / मिला झूठ दरबारों में।’

पीड़ा और तकलीफ़ की पराकाष्ठा तब होती है जब वह आँसुओं
से बयान होने लगती है। इस बेबसी पर यह शेर खूब है—

‘हाकिमों ने जब जुबानें काट दीं / दर्द आँखों से बयाँ होने लगे।’

आधुनिकता की इस आँधी में फूलों का खिलना ही क्या अब तो
पूरा गुलशन ही उजाड़-सा लगता है। साथ ही लोगों के अंतर्मन भी जैसे
सूखते चले जा रहे हैं—

‘फूल कहाँ के, कैसी खुशबू, पूरा गुलशन ग़ायब है
ऐसा लगता है जीवन से असली जीवन ग़ायब है
सब के अंदर जाकर मैंने देख लिया है हमअसरो!
तन के खंडहर में सब कुछ है बस अंतर्मन ग़ायब है।’

ग़ज़लकार का मुख्य सरोकार युगीन यथार्थ का उद्घाटन है।
माधव विकास के इस नए तिलिस्म को समझ रहे हैं और शहरों की इन
आकाशचुम्बी अट्टालिकाओं को देखकर वे प्रश्नाकुल होकर पूछते हैं—

‘हवा कहाँ से आएगी / और ऊँची दीवार न कर।’

यहाँ दीवारों ही ऊँची नहीं हो रहीं बल्कि संवेदनहीनता और छद्म
भी बढ़ रहे हैं जिससे असुरक्षा की भावना एक रोग की तरह घर करती
जा रही है—

‘खुशी लफ़्ज़ों में जाहिर कर रहा था / मगर अंदर से कितना डर
रहा था।’

इसी असुरक्षा की भावना में कैद इंसान आज खुद को अकेला
महसूस करता है—

‘मुखौटे ही मुखौटे हैं मुखौटों से मुहब्बत क्या
मुहब्बत के लिए हमको असल चेहरा नहीं मिलता।’

आजादी के बाद हमारी स्वार्थपूर्ण राजनीति ने सत्ता के चरित्र को
ही बदल कर रख दिया है। आज शासक हर हाल में अपना शासन
चलाते रहना चाहता है। इसके लिए वह अनेक हथकंडे अपनाता है और
उसका राजनैतिक छद्म हमारे समक्ष उजागर हो जाता है—

‘मैं सदा गुलदान लेकर ही उसे मिलने गया

दौड़कर बाहर वो आया हाथ में खंजर लिए।’

माधव कौशिक राष्ट्रीय एकता के लिए साम्प्रदायिक सद्भाव के
पक्षधर बनकर सामने आते हैं। उन्होंने ग़ज़ल के द्वारा रूढ़ियों और
जड़ताओं को उघाड़ कर उन्हें सदैव जीवन्त सवालियों की तरह रखा है—

‘सरहद पर जाकर लड़ते तो बात भी थी
लेकिन हम तो रोज़ लड़े हैं गलियों में।’

वे जानते हैं कि धार्मिक विद्वेष और घृणा ने समाज में क्रूरता और
हिंसा का तांडव प्रारम्भ कर दिया है, जिससे वे हर समय बेचैन रहते
हैं—

‘दरवाजों ने कहा घरों में बन्द रहो
खंजर लेकर लोग खड़े हैं गलियों में

जिन हाथों में कल तक डाली फूलों की होती थी आज
उन हाथों में चमचम करते खूनी खंजर दिखते हैं।’

माधव इस हिंसा से निजात पाने का यही उपाय बताते हैं कि
समाज में समरसता, सद्भाव, आपसी सामंजस्य और अपनेपन की
भावना को विकसित करने के लिए लोग आगे आएँ—

‘नफ़रत को मिटाने के लिए कोई तो आए
अब आग बुझाने के लिए कोई तो आए
सैकड़ों सूरज हज़ारों जुगनुओं के बावजूद
इस अँधेरे में कहीं कुछ तो दिखाई दे मुझे।’

इस तरह माधव की ग़ज़लें इंसानियत की राह तलाशती ग़ज़लें हैं,
जो साम्प्रदायिक सद्भाव का, अमन का सन्देश भी देती चलती हैं—

‘कलियों की आँखों के आँसू कहते हैं कुछ गलत हुआ
अपनी पलकों से सहलाओ ज़ख्मों को आवाज़ न दो
अगर एक की भी मायूसी ख़त्म हुई तो क्या कहने
बरसों से रूठे रिश्तों को दोस्त मनाने निकला हूँ।’

वे हमें आगाह करते हैं कि समाज में जब तक एक-दूसरे के बीच
के रूठे रिश्तों को नहीं मनाएँगे, तब तक समाज में अमन-चैन नहीं आ
सकता है—

‘हम हवा के हाथ पर मिलकर करेंगे दस्तख़त
हाथ में खुलकर कभी जो हाथ भाई दे मुझे।’

इसी भाईचारे और प्रेम का आह्वान करना वे आज के प्रत्येक
रचनाकार का कर्तव्य समझते हैं। यहाँ प्रेम को जिस अंदाज़ में उन्होंने
बयान किया है, वह बेजोड़ है—

‘आने वाली पीढ़ी को भी प्यार की क्रीमत याद रहे
हर दिल के कोरे पन्ने पर किस्सा रौंझा हीर लिखूँ
खुले जेहन से खुली आँख से देखे रिश्ते-नातों को
बोझ रूढ़ियों का जीवन भर ढो जाए यह ठीक नहीं।’

ऐसे स्वार्थपूर्ण समय में जब प्रकृति पर होने वाल प्रहारों से हमारे
अस्तित्व के लिए संकट की स्थिति बनी हुई है और प्रकृति से छेड़छाड़
कर मनुष्य स्वयं को विकसित समझने लगा हो लेकिन अंततः उसको
एक-न-एक दिन प्रकृति के आगे हथियार डालने ही पड़ेंगे—

‘दरिया की मनमानी है / पानी पानी पानी है।’

इस तरह अपने समय की विसंगतियों और कुरूपताओं के प्रति
कवि अपना रोष व्यक्त करता है और इन शोषित, वंचित और उत्पीड़ित
जनों को सार्थक संघर्ष के लिए यूँ तैयार करता है—

‘सर उठाकर साँस लेने की मनाही है तो फिर
लोग क्यों जिन्दा हैं अब तक सब सलामत सर लिए।’
इस घुटन भरे परिवेश के लिए जिम्मेदार शक्तियों की पहचान कर
वे स्थिति में बदलाव का यँ संकल्प कराते हैं—

‘अगर है बाजुओं में दम तो सुन लो / बदल सकते हो मिलकर
रुख हवा के।’

लेकिन वे कहते हैं कि परिवर्तन के लिए बलिदान आवश्यक है,
अतः जिसे मानवता के कल्याण की बात करना है उसे त्याग, समर्पण
और बलिदान की राह पर तो चलना ही होगा—

‘मसीहे जब भी आएँगे सलीबों पर ही लटकेंगे

कोई सुकरात को रोकेगा कैसे ज़हर पीने से।’

क्रान्ति के विचार को पैदा करने वाले को बलिदान करना ही
पड़ता है, यह कहकर कवि सुकरात की मिसाल रखकर वे यँ प्रतिरोध
की चेतना जगाते हैं—

‘उस दिन तुम्हारे हाथ से सत्ता भी जाएगी

जिस दिन सड़क पे आ गए बेचारे आम लोग।’

इसलिए कवि संघर्ष के लिए आमजन के साथ रहकर उनमें
हौसला भरता है। अपनी संघर्षधर्मिता में माधव के प्रिय प्रतीक अँधेरा
और उजाला हैं—

‘अँधेरा है तो फिर लड़ता नहीं क्यों

उजाला यँ न बैठे हाथ मल कर’

‘बुझते हुए दीयों को जलाने की दुआ कर

लफ़्जों को करीने से सजाने की दुआ कर।’

माधव की ग़ज़लों में संघर्ष उनके रेशे-रेशे में व्याप्त है, जो कभी
हिदायत की तरह आता है, तो कभी नसीहत की तरह—

‘आँसू बनकर झरना मत / मौत से पहले मरना मत।’

उनकी आँसू बनकर न झरने की और मौत से पहले न मरने की
नसीहत हमें उम्मीद पर डटे रहना भी सिखाती है और अंधी आँखों में
ख्वाब भी सजाती है—

‘आने वाले दिन अब से भी ज़्यादा मुश्किल गुज़रेंगे

मैं सब की अंधी आँखों में ख्वाब सजाने निकला हूँ।’

कवि को आने वाली नई पीढ़ी से बड़ी उम्मीदें हैं, इसलिए उनके
चेहरों की मुस्कान को बनाए रखने की सलाह देते हैं—

‘बन्द घरों के हर कमरे में जैसे रौशनदान रहे

उसी तरह से हर बच्चे के चेहरे पर मुस्कान रहे।’

माधव की ग़ज़लों में एक बात मार्के की है कि वे कभी त्रासदी से
घबराकर पीछे नहीं हटते, जिन्दगी की राह पर सच्चाई के साथ आगे
बढ़ने का दमखम उनमें नज़र आता है—

‘आने वाले कल को बेहतर लिखेगा

सच्चाई तो केवल शायर लिखेगा।’

उपरोक्त विश्लेषण से पता चल जाता है कि ये सार्थक और समय
सापेक्ष ग़ज़लें हैं। इन ग़ज़लों के माध्यम से माधव कौशिक ने समाज की
सच्ची तस्वीर पेश की है। दरअसल, उनकी ग़ज़लों का कैनवास बहुत
बड़ा है, जिसमें वर्तमान समय, हमारा समाज, उजड़ती हुई प्रकृति और
बदलते मानव-व्यवहार का सुन्दर चित्रण हुआ है। इस ग़ज़ल-संग्रह में

हमें ऐसे अनेक शेर मिल जाएँगे, जिनमें विषय की गम्भीरता भी है और
कहन की खूबसूरती भी। वास्तव में माधव मानवीय संत्रास, पीड़ा और
करुणा के ग़ज़लकार हैं। संवेदनशीलता की गहरी छुअन इस संग्रह की
अधिकांश ग़ज़लों में देखने को मिल जाती है। उनकी ये ग़ज़लें व्यापक
मानवीय सरोकारों से जुड़ी जीवन्त भावबोध की ग़ज़लें हैं, जिनमें समय
के लगभग सभी ज़रूरी पक्षों को स्पर्श किया गया है। यहाँ जगह-
जगह माधव ने व्यवस्था तथा उसके अंतर्विरोधों पर प्रश्न उठाए हैं और
यथास्थिति का विरोध किया है लेकिन ग़ौर करने वाली बात यह है कि
वे इन ग़ज़लों में तथाकथित वाद, विचारधारा या शिविर से मुक्त होकर
अपने समय की व्याख्या करते हैं।

माधव एक वरिष्ठ और मँजे हुए ग़ज़लकार हैं, इसलिए ग़ज़ल
के अरूज से पूरी तरह वाकिफ़ हैं। उनकी प्रत्येक ग़ज़ल शीन-काफ़
से दुरुस्त है, जो उनकी ग़ज़ल के प्रति गम्भीरता और समर्पण को
दर्शाती हैं। इसके आगे बढ़कर वे एक प्रयोगधर्मा ग़ज़लकार भी नज़र
आते हैं। मसलन, कभी नए रदीफ़ लेकर आए हैं, तो कभी मक़ते का
भी प्रयोग मिलता है। उनके अशआर में यह जो ‘देखते हैं’ शब्दों की
आवृत्ति है, यह उनकी दृष्टि-सम्पन्नता का प्रमाण प्रस्तुत करती है।
उनके बिम्ब उनकी इसी दृष्टि-सम्पन्नता से उपजे हैं, जो पाठकों को
सदैव ताज़गी का अहसास कराते हैं। माधव की ग़ज़लों में जटिलता या
दुर्बोधता इसलिए नहीं है, क्योंकि भाषा पर उनका ग़ज़ब का अधिकार
है। स्थितियों की पकड़, स्थितियों के पीछे के कारकों की पहचान और
भाषा के बदलते तेवर को अभिव्यक्ति के अनुरूप ढालने का साहस एक
समर्थ कवि की पहचान होते हैं। यह पहचान हमें माधव कौशिक की
ग़ज़लों में व्यापक रूप से देखने को मिलती है।

भाषा के स्तर पर ये ग़ज़लें बिना किसी भाषागत संकीर्णता के,
सहज भाव से लिखी गई हैं। उनकी भाषा उनकी ग़ज़लों की सबसे
बड़ी ताक़त है, यह वह भाषा है, जिसे हम और आप बोलते हैं, इसकी
साधारणता में ही इसकी विशिष्टता छुपी हुई है। दरअसल कहन और
भाषा का मुहावरा दो ऐसे बुनियादी तत्त्व हैं जिनसे ग़ज़ल में असर पैदा
होता है और वह पाठक की स्मृति में अपना स्थायी जगह बनाती है।

वास्तव में माधव इन ग़ज़लों के ज़रिए एक ऐसे जीवन-दर्शन की
खोज करते नज़र आते हैं, जिसमें सृजनात्मक मूल्यों के प्रति मनुष्य
की प्रतिबद्धता और निष्ठा स्पष्ट झलकती हो। ऐसा दर्शन, जिसमें
सकारात्मक दृष्टिकोण का उजास हो। इसीलिए इन ग़ज़लों में कवि बार-
बार मानवीय पीड़ा को आत्मसात कर एक प्रकाशमय और खुशहाल
समाज की संकल्पना करता है। इस संग्रह तक आते-आते कवि की
दीर्घ साहित्य-साधना न केवल परिपक्व हुई है, बल्कि इसमें दृष्टि की
व्यापकता और अभिव्यक्ति की सहजता भी विकसित हुई है। अतः कह
सकते हैं कि यह संग्रह माधव कौशिक की ग़ज़ल-यात्रा के उत्कर्ष का
शीर्ष प्रस्तुत करता है और उनकी ग़ज़लें, ग़ज़ल के खयाल, उसके
मिज़ाज और कहन की दृष्टि से उच्चस्तरीय हैं और हमें आश्चर्य करती
हैं कि ग़ज़ल की दुनिया में इनका दिल से स्वागत होगा। □

(कृति : ‘शब्द ढले अंगारों में’ (ग़ज़ल-संग्रह) ; ग़ज़लकार : माधव कौशिक ; प्रकाशक :
भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टिट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003 ;
पृष्ठ : 120 ; मूल्य : 240 रुपये)

बाज़ार के दबाव से जूझती मानवता की पक्षधर कहानियाँ

अरुण होता



कथाकार अनुज का दूसरा कहानी-संग्रह 'ठेले पर ग्लोब' भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ है। अनुज उन चन्द कथाकारों में हैं जिन्होंने कम लिखकर अधिक ख्याति अर्जित की है। उन्होंने सत्रह-अठारह वर्ष की कथा-यात्रा में महज सोलह-सत्रह कहानियाँ लिखी हैं, लेकिन पिछले दो दशकों के कहानी-लेखन की चर्चा उनकी कहानियों के बिना अधूरी मानी और समझी जाती है। यह इसलिए कि इस कथाकार को 'कुछ भी और कैसा भी लिख देना पसन्द नहीं' है। लेखन की गुणवत्ता महत्वपूर्ण है न कि मात्रा या संख्या। कहानीकार की इस दृष्टि का प्रमाण है कि वर्ष 2009 में प्रकाशित पहले संग्रह के बारह साल बाद सात कहानियों का संग्रह प्रकाशित हुआ है लेकिन उल्लेख किया जाना चाहिए कि कथाप्रेमियों को आज भी उनकी प्रारम्भिक कहानियों में व्यक्त संवेदना स्मरण है। उनकी लैंडमार्क कहानी 'खूँटा' के बाद कई अच्छी ही नहीं, बहुत अच्छी कहानियाँ चर्चित हुईं। मसलन, नवम्बर, 2012 में पत्रिका 'कथादेश' में प्रकाशित 'अँगुरी में डस ले बिया नगिनिया' का नाम लिया जा सकता है। हिन्दी के तमाम प्रसिद्ध कथालोचकों से लेकर युवा आलोचकों ने सालभर तक 'परिकथा' की बहस में अपने विचार रखे थे। 'ठेले पर ग्लोब' की कहानियों के आधार पर कहानीकार के सरोकार, उसकी कथा-दृष्टि, निहित संवेदना, चिन्ता और चेतना की ओर संकेत करना यहाँ हमारा उद्देश्य है।

भूमंडलीकरण कहें अथवा भूमंडीकरण, पिछले तीन दशकों से अपनी असलियत दिखाता आ रहा है। भारतीय जन-जीवन का शायद ही ऐसा कोई क्षेत्र होगा जिस पर इसकी आसुरी वृत्तियों का दुष्प्रभाव न पड़ा हो। पूँजी, बाज़ार, विज्ञापन के सहारे भूमंडलीकरण ने अपना दैत्याकार रूप धारण कर लिया है। इसने बाज़ार का ऐसा भ्रमजाल फैलाया है कि बाज़ार से लुटने के लिए लोग खुद दौड़े चले जा रहे हैं। बाज़ार का सहज शिकार होकर वे अपने को अत्याधुनिक होने का झूठा दम्भ पाल रहे हैं। बाज़ार अपने दोनों हाथों में मुनाफ़ा भरता चला जा रहा है। भूमंडलीकरण, बाज़ारवादी अर्थ-व्यवस्था, पूँजीवादी समय के अंतर्विरोधों और विसंगतियों को उद्घाटित करने वाली कहानी है 'फ़ैसला सुरक्षित है'।



'फ़ैसला सुरक्षित है' कहानी में कथाकार ने ऊसर सिंह के बहाने समाज और देश में व्याप्त हो चुकी इंसानी रिश्तों में आने वाली कमी को दर्शाया है। एक ओर परिवार में बुजुर्गों की स्थिति पर जहाँ कहानी चिन्ता व्यक्त करती है वहीं दूसरी ओर बाज़ार के द्वारा मनुष्य के 'इमोशन' का भी व्यापार करने और मुनाफ़ा कमाने की मंशा को इस कहानी में उजागर किया गया है। 'इमोशन ऑन डिमांड प्रालि.' के माध्यम से लेखक ने इस ओर इशारा किया है। ऊसर सिंह अपने बड़े बेटे, बहू, पोतों के साथ कदमताल नहीं कर पाते यानी कहानी में पीढ़ियों में आने वाली दरार की ओर भी संकेत है। बाज़ारवादी अर्थव्यवस्था ने समाज में सम्बन्धों की ऊष्मा को समाप्ति की कगार पर पहुँचा दिया है। नातेदारी

अथवा रिश्तेदारी के निर्वहन को हाशिए पर धकेल दिया है। आशय यह कि 'फ़ैसला सुरक्षित है' एक बहुआयामी कहानी है जिसमें हमारे समय और समाज के विभिन्न पहलुओं पर कहानीकार की चिन्ता स्पष्ट झलकती है, लेकिन सबसे बड़ी चिन्ता है परिवार से लेकर समाज और राष्ट्र तक भयानक रूप से हास हो रही मानवता की चिन्ता, मानवीय सम्बन्धों में आने वाली यान्त्रिक और इनसे लहलुहान होकर कराहने वाली मानवता। इस कहानी की सबसे बड़ी खूबसूरती यह है कि ऊसर सिंह के बड़े बेटे में थोड़ा-थोड़ा गँवईपन अब तक बचा हुआ है। इस बचे हुए गँवईपन से पूँजी और बाज़ार की विनाशकारी ताकतों से लड़ा जा सकता है और मनुष्यता को बचाने का प्रयास किया जा सकता है। इसलिए ऊसर सिंह शहर में नहीं रहना चाहते। गाँव लौट जाना चाहते हैं।

अपने गाँव और वहाँ की मिट्टी से जुड़ने का मतलब है अपनी जड़ से जुड़ना और बिना अपनी जड़ से जुड़े बड़ी लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती। निःसंदेह 'फ़ैसला सुरक्षित है' पाठक को बेचैन करने वाली कहानी है।

'ओढ़नी' में महादलितों का आंदोलन, जातिवाद का दंश, सत्ता विमर्श, संघर्ष आदि की कथात्मक अभिव्यक्ति है तो 'बोर्डिंग पास' में पूँजीवाद तथा बाज़ारवादी व्यवस्था की चपेट में आकर घोर अमानवीयता की पराकाष्ठा है। अमरीका निवासी बेटा अयान माँ की चल तथा अचल सम्पत्ति व सामग्री बेचकर माँ को हवाई अड्डे में छोड़ अमरीका भाग जाता है। अत्यंत सहज, सरल तथा भोली-भाली माँ के विश्वास को प्रबल

धक्का पहुँचता है। 'ओढ़नी' की कथा कुछ पुरानी है तो 'बोर्डिंग पास' में अत्याधुनिक जीवन शैली है। पहली कहानी की पृष्ठभूमि छोटा-सा शहर है तो दूसरे की मेट्रोपॉलिटन। इसी दूसरी कहानी के अंत में जब एयरपोर्ट के अधिकारी माँ को उसके घर तक पहुँचाने की व्यवस्था करा देने की बात करते हैं तब उसने सूनी आँखों में किसी अधिकारी को जो कहा वह पूरी मानव जाति के हृदय को दहला देने वाला है— “अब कौन-सा घर..... ?”

'ओढ़नी' में मैला ढोने की अभिशप्त प्रथा बन्द करने हेतु आंदोलन है। इस आंदोलन का नेतृत्व महादलित निरमलिया के हाथों में है। सबसे पहले इस गन्दी प्रथा को बन्द करने का विचार उसी के मन में आया। यह अलग बात है कि गगन संकरिया का इकलौता बेटा रतलाम निरमलिया का साथ देता है। वह उसका प्रेमी भी था। महादलितों के जीवन के अंतर्विरोधों, विडम्बनाओं तथा विसंगतियों को कहानीकार ने गहरी सूझ-बूझ और अंतर्दृष्टि के साथ चित्रित किया है। इस कहानी में ओढ़नी को डी-कोड किया जाए तो साफ़ पता चलता है कि यह प्रारम्भ, मध्य तथा चरमोत्कर्ष में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुई है। पहला सुन्दरता के अर्थ में, दूसरा संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में और तीसरा मृत्यु के साधन के सन्दर्भ में। पूरी कहानी में निरमलिया और रतलाम की प्रेमधारा निरन्तर प्रवाहित हुई है। व्यापारी वर्ग के दुष्चक्र से यूँ कहें कि रतलाम के पिता गगन संकरिया दुष्कांड से निरमलिया की हत्या के बाद भी प्रेम का स्रोत बहता रहता है। इस कहानी में अनुज का कहानीकार जितना निरमलिया के संघर्ष और नेतृत्व के साथ है उतना रतलाम के विचारों के साथ भी। दलित आंदोलन को ठप्प करने के लिए जितना हाथ ऊँची जाति के लोगों का था उसे निरस्त करने के लिए दलितों का भी कम हाथ न था। आशय यह कि कहानीकार ने कहीं कुछ छिपाने का प्रयास नहीं किया है। यथातथ्य की ओर कथा के बहाने पाठकों का ध्यानाकर्षित किया है। निरमलिया की हत्या से बौराया रतलाम गाँधी चौक पर आकर कंकड़-पत्थर इकट्ठा करता है। वह निरमलिया के भाई डमरू से कहता है—“देख डमरू, यहीं बनेगी मूर्ति, गाँधीजी के ठीक सामने, गाँधीजी के बराबर ...सुन्दर-सी मूर्ति, बड़ी-सी मूर्ति बनाऊँगा।” (पृष्ठ-96) गाँधीजी के सपनों को सच करने के लिए निरमलिया के आत्मोत्सर्ग को रतलाम समझता है। पूरा समाज समझे तो स्वस्थ समाज का निर्माण हो सकता है। हिंसा, घृणा, मार-काट के वातावरण में प्रेम के महास्त्रोत को प्रवाहित कर कहानीकार ने मानवीय मूल्य पर अपना अटूट भरोसा व्यक्त किया है।

समकालीन हिन्दी कहानी में खेल संसार पर आधारित चन्द कहानियाँ पाई जाती हैं। यह जरूर है कि प्रेमचन्द की कहानियों में खेल का चित्रण मिलता है और जैनेंद्र कुमार ने भी 'खेल' शीर्षक कहानी लिखी है। समकालीन कहानी में सत्यनारायण पटेल की एक बेहतरीन कहानी मिलती है 'मिन्नी, मछली और साँड'। यह खेल के अंतर्विरोध और तन्त्र को उधाड़ती है। इस सन्दर्भ में अनुज की 'टार्गेट' कहानी भी पढ़ी जानी चाहिए। यह कहानी आर्चरी क्वीन दीपिका कुमारी को समर्पित भी है। आर्चरी में स्वर्णपदक प्राप्त करने वाली दीपिका कुमारी की प्रतिभा और संघर्ष को कहानी में रूपायित किया गया है। कहानी में बड़ी चिन्ता है कि खिलाड़ियों की मेहनत, प्रतिभा और निष्ठा के बलबूते प्राप्त श्रेय को राजनीति हड़प कर ले जाती है। सारा श्रेय अपने हवाले कर लेती है। खिलाड़ी अपने देश के लिए 'टार्गेट' सेट करते हैं तो राजनीति अपने स्वार्थ के लिए उस श्रेय के माध्यम से अपना 'टार्गेट' पूरा करती है।

'पंजा' में कथाकार ने समाज के बाज़ार में तब्दील होने की विसंगतियों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। मीनाक्षी और नलिन के मध्यवर्गीय दाम्पत्य जीवन में बाज़ार के प्रवेश ने नैतिकता-अनैतिकता की तमाम सरहदों को पार करा दिया और स्त्री को उसकी देह तक सीमित रखने का पुरजोर प्रयास किया है। मीनाक्षी की कमर पर 'काला और चौड़ा पंजा' गड़ाने में पूँजीवादी व्यवस्था कैसे सफल होती जा रही है, इस ओर अनुज ने संकेत किया है। मौसाजी, उनके नए रिश्तेदार आदि पूँजी के प्रतीक बनकर कहानी में अंकित हैं। चिन्ता की बात यह है कि उपभोक्तावादी समाज में मीनाक्षी स्वयं को प्रोडक्ट के रूप में पेश करती है।

शीर्षक कहानी 'ठेले पर ग्लोब' इस संग्रह की महत्वपूर्ण रचना है। बाज़ार, पूँजी और सत्ता की साँठ-गाँठ से देश के आमजन की त्रासदी को कथा-सूत्रों में पिरोया गया है। छल-छद्म, कपट के सहारे पूँजीपतियों के मुनाफ़े हजार गुने बढ़ रहे हैं तो आम आदमी दो वक्त्र की रोटी के लिए तरस रहा है। आमजन के विनाश से विशिष्ट जन का विकास हो रहा है। ग्लोबल होती दुनिया में लोकल की तबाही हो रही है। इस खेल में राजनीति, कार्यपालिका आदि को पूँजी अपने इशारे से नचाती रहती है। अपनी इस चिन्ता और चेतना को साझा करने के लिए कहानीकार ने 'ठेले पर ग्लोब' लम्बी कहानी की रचना की है। कहानी का शीर्षक प्रतीकात्मक है। ठेला देशज है और स्वनिर्भरता का प्रतीक जबकि ग्लोब एक आयातित विचार और पराधीनता से जकड़ने की साजिश का प्रतीक। यह ग्लोब 'वसुधैव कुटुंबकम्' का पर्याय कर्तई नहीं है बल्कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा अधिक-से-अधिक मुनाफ़ा हासिल करने का एक ज़रिया मात्र है। बस एक नारा है। इस ग्लोब ने ही आज किसान को मज़दूर बना दिया है और छोटे व्यापारियों को रास्ते पर खड़ा कर दिया है।

कहानी में प्रशांत खटिक उर्फ़ परसा, उसकी पत्नी गौरी पासवान जैसे पात्रों के मध्यम से भूमंडलीय षड्यन्त्रों का विरोध प्रदर्शित किया गया है। अकेले परसा से शुरू हुआ अनशन जनांदोलन का रूप ले लेता है। आक्रामक और ज़िद्दी परसा के संघर्ष, आत्मविश्वास और निष्ठा को कहानीकार ने बड़ी खूबसूरती से उकेरा है। गौरी के समझदारी, निडरता, हाज़िरजवाबी आदि से सम्पन्न व्यक्तित्व का सुन्दर रेखांकन हुआ है।

पुनः इस कहानी में यथार्थ की परत-दर-परत को उद्घाटित करने में भी कथाकार को सफलता हासिल हुई है।

अनुज की कहानियों की एक बड़ी खूबी यह है कि यहाँ कथा-वैविध्य है। विभिन्न संवेदनाओं से भरपूर कहानियाँ हैं। एक ही तरह की कहानियाँ लिखना इस कथाकार को कर्तई पसन्द नहीं है। हमेशा नया कुछ करने की मंशा रखने वाले इस कहानीकार की रचनाएँ पाठकों को अब तक पसन्द आती रही हैं।

अनुज के इस कथा-संग्रह से उनके कथा-सामर्थ्य का सुन्दर परिचय मिलता है। कहानियाँ रोचक हैं इसलिए पठनीय भी। समय और समाज की चिन्ताओं को कथा के बहाने प्रस्तुति करने में कहानीकार को सफलता प्राप्त है। अनावश्यक फैलाव अनुज के कथा-लेखन का स्वभाव ही नहीं है। उनकी कहानियों में कोई पुनरावृत्ति नहीं। न विषय के स्तर पर और न शिल्प की दृष्टि से। कहानी के शीर्षक से लेकर क्लाइमैक्स तक यत्र-तत्र सांकेतिकता मौजूद रहती है। इससे शिल्प का उत्कर्ष सामने आता है। □

(कृति : 'ठेले पर ग्लोब' (कथा-संग्रह) ; लेखक : अनुज ; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 18- ईस्टट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003 ; पृष्ठ : 120 ; मूल्य : 240 रुपये (सजिल्द)

कबीर को समग्रता में देखा-समझा जाए

नीरज कुमार मिश्र



भक्ति-आंदोलन के वैविध्य और अंतर्विरोधों के बावजूद लोकोन्मुख होने की वजह से समाज में इसका असर बहुत गहरा और व्यापक रहा। इस आंदोलन की जन-व्यापकता का ही असर था कि समाज में निम्नजातियों में आत्मगौरव का भाव जागने के साथ, समाज में व्याप्त जाति-प्रथा को धक्का भी लगा। समूचे भारतीय परिदृश्य में उभरे भक्ति के सभी मार्गों ने जनता में आत्मविश्वास का संचार किया। इस आत्मविश्वास का ही प्रतिफलन था कि समाज का शोषित वर्ग अपने अधिकारों के लिए उठ खड़ा हुआ, जिसमें स्त्रियाँ भी शामिल थीं। इस परिदृश्य में यदि कबीर की बात करें, तो कबीर का प्रादुर्भाव ऐसे समय हुआ जब देश में सांस्कृतिक अवस्था नीचे की तरफ जा रही थी। भक्ति आंदोलन एक बड़े सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में जनमानस की संस्कृति के उत्कर्ष का स्वर्णिम काल बनकर उभरा। इस बात को प्रसिद्ध आलोचक मैनेजर पाण्डेय ने रेखांकित किया है कि भक्ति आंदोलन के साथ भारतीय समाज, संस्कृति और साहित्य के विकास की नई अवस्था का आरम्भ होता है; जिसकी अभिव्यक्ति दर्शन, धर्म, कला, साहित्य, भाषा और संस्कृति के दूसरे रूपों में दिखाई देती है।

भक्तिकालीन समाज में अनेक सैद्धांतिक मार्गों एवं दर्शनों का प्रभाव साफ़ देखा जा सकता था। उस दौर के ऐतिहासिक और सामाजिक परिदृश्य को देखने से पता चलता है कि समाज में शोषित वर्गों का शोषण बदस्तूर जारी था। इसीलिए कबीर के समूचे दर्शन में समाज में व्याप्त अनेक रूपों का योग एक साथ दिखाई देता है। कबीर का समूचा जीवन धर्मनिरपेक्षता या साम्प्रदायिकता, वर्गविहीन समाज, पारिवारिक शुचिता, सामाजिक पाखंड तथा इससे भी आगे एक आदर्श व नैतिक जीवन के पक्ष और विपक्ष में खड़े होकर लड़ता रहा। हम जानते हैं कि किसी भी समाज के सामंजस्य के लिए पारस्परिक सौहार्द्र तथा प्रेम आवश्यक है। जब भी प्रेम की बात आती है तो स्त्री सबसे पहले हमारे जेहन में आती है। स्त्री के बिना प्रेम की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि प्रेम और त्याग का दूसरा नाम है स्त्री।

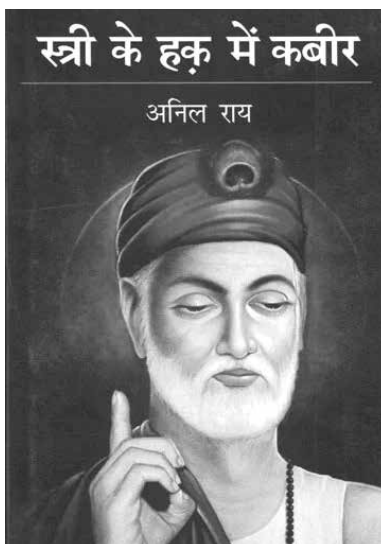
साहित्य में ये विवाद का विषय रहा है कि कबीर स्त्री-विरोधी थे। इस विवाद के अनेक पहलुओं को समझने, उसके कारणों को जानने

और ये पता लगाने के लिए कि कबीर स्त्रियों के हक में हैं कि नहीं, इस सभी सवालों को जानने के लिए चर्चित आलोचक और, भक्तिकाल के अध्येता अनिल राय की पुस्तक 'स्त्री के हक में कबीर' से होकर गुजरना होगा। कबीर के दार्शनिक पक्षों के आलोक में स्त्री विषयक अनेक सवालों से टकराती ये पुस्तक चार अध्यायों में वर्गीकृत है- 1. भक्ति आंदोलन का उद्भव और लोकोन्मुख पक्ष 2. भक्तिकालीन समाज और स्त्री 3. कबीर-साहित्य में स्त्री और उसके विविध रूप 4. अंततः कबीर स्त्री-विरोधी नहीं। इन अध्यायों के माध्यम से इस पुस्तक के लेखक ने भक्ति आंदोलन के उद्भव और लोकोन्मुख पक्ष को पाठकों के सामने रखकर कबीर के समकालीन समाज परख की है। लेखक ने इस पुस्तक के आधार पर साहित्य में स्त्री और उसके विविध रूपों

का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण ही नहीं किया, बल्कि कबीर पर लगे स्त्री-विरोधी होने के आरोपों को तर्क के साथ खंडित भी किया है-कबीरदास पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि वे स्त्री के बारे कोई प्रगतिशील विचार नहीं रखते, अपितु वे अपने समकालीन सगुण-निर्गुण कवियों के समान ही स्त्री की निन्दा करते हैं। चूँकि भक्ति उनकी साधना का मूल थी, अतः वे स्त्री को उसके मार्ग में बाधा के रूप में पाते। कबीर के पूर्ववर्ती नाथ-सिद्ध साहित्य में यही दृष्टि मिलती है और काफ़ी हद तक कबीर उनकी साधना और साधना-पद्धति से प्रभावित नज़र आते हैं। अनेक स्थानों पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वे परम्परा का पालन मात्र करते हों। जब वे स्त्री को साधना-पथ का बाधक और माया के रूप में देखते हैं तो उनकी आधुनिक प्रज्ञा पर प्रश्नचिन्ह लगता है। क्यों कबीरदास स्त्री को माया और नरक का कुंड कहते हैं, जबकि वही कबीर साधना की पराकाष्ठावस्था में स्वयं स्त्री बन जाते हैं। अपने को 'राम की बहुरिया' कहते हैं और सामान्य प्रेमी-प्रेमिका की भाँति विरह और मिलन के आध्यात्मिक अनुभव के क्षणों का एहसास कराते हैं। वे 'बालम आव हमारे गेह और तुम बिन दुखिया देह रे' जैसी पंक्तियों के माध्यम से मानवीय सम्बन्धों की ऊष्मा का एहसास कराते हैं। वे माँ का जैसा सुन्दर चित्र खींचते हैं। क्या किसी सगुण भक्त कवि के यहाँ पाया जा सकता है? युगीन परिस्थितियों और मध्यकालीन

स्त्री के हक में कबीर

अनिल राय



सामंती समाज के परिप्रेक्ष्य में जब हम कबीर की स्त्री-दृष्टि पर विचार करते हैं तो यह पाते हैं कि वे समग्रतः स्त्री-विरोधी नहीं बल्कि स्त्री के हक में खड़े होते दिखते हैं। कबीर को अपने समाज के मनोविज्ञान की गहरी समझ थी। इसीलिए वह समाज में स्त्री के अनेक रूपों को व्यंजित करते हैं। चाहे स्त्री हो या पुरुष जो भी साधना के पथ में बाधक बनता है, कबीर उसकी निंदा करते हैं।

शंकर के मत के अनुसार कोई भी जीव अपनी मुक्तावस्था में बुद्धि तथा उपाधि के नष्ट होने के बाद ही ब्रह्म से मिलकर एकाकार हो सकता है। कबीर इस एकाकार होने की अवस्था से पहले मनुष्य की हर तरह से मुक्ति को प्रमुखता देते हैं। मुक्तावस्था में ही मनुष्य ब्रह्मानन्द को अनुभव करता है। यही वजह है कि निर्गुण सन्तों ने नारी को माया का साधन मानते हुए, उसके उन सभी रूपों की निंदा की, जिसे उन्होंने साधना में बाधक के रूप में देखा।

तुलसीदास की तरह कबीर ने भी जब स्त्री की निंदा की, तब उस समय की साहित्यिक, सामाजिक, ऐतिहासिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ जिम्मेदार थीं। इस तरह हम कह सकते हैं कि भक्तिकाल में जब भी सन्त कवियों ने नारी की निंदा की तो वह प्रसंगानुकूल एवं पात्रानुरूप निंदा थी, ना कि समूची नारी जाति की निंदा। यही वजह है कि कबीर के लेखन में भी दाम्पत्य जीवन के अनेक चित्र देखने को मिल जाएँगे। इस प्रसंग में श्याम सुंदर दास के कथन को कबीर के नारी निंदक न होने के प्रामाणिक दस्तावेज के रूप में देख सकते हैं— सन्तों ने नारी की जो निंदा की है वह दूसरी ही दृष्टि से है। स्त्री से उनका अभिप्राय स्त्री-पुरुष के काम-वासना पूर्ण संसर्ग से है। स्त्री की निंदा कबीर से बढ़कर कदाचित ही किसी ने की हो, परन्तु पति-पत्नी की भाँति न रहते हुए भी लोई का आजन्म उनके साथ रहना प्रसिद्ध है।

उस दौर के मध्यकालीन समाज द्वारा गढ़े पितृसत्तात्मक बन्धन से स्त्री बाहर नहीं निकल पाई थी। ऐसे समय में धर्म और आध्यात्म के धरातल पर स्त्री नरक के द्वार के रूप में जानी जाती थी लेकिन भक्तिकाल में स्त्री के उसी रूप की आलोचना हुई जो साधना में बाधक बनी। कबीर ने भी स्त्री को जहाँ भी माया का साधन और साधक में बाधा पाया, वहाँ उनका विरोध किया लेकिन जहाँ स्त्री साधना में सहायक हुई वहाँ उसकी प्रशंसा भी की। स्त्री की सामाजिक स्थिति को देखकर कबीर जैसा क्रान्तिकारी सन्त शान्त नहीं रह सकता था। उस दौर की सामाजिक स्थिति और उस स्थिति के असर से कबीर की मनःस्थिति की मनोवैज्ञानिक परख इस पुस्तक में लेखक ने की है— उनके समकालीन समाज में नारियों की जो स्थिति थी उसे देखकर उनकी प्रज्ञा आंदोलित हो उठी, जिसके कारण कभी उन्होंने नारी के प्रति आक्रोश व्यक्त किया तो कभी उनकी प्रशंसा करते हुए संतोष। इसीलिए उनके काव्य में नारी-जीवन के विविध आयाम लक्षित होते हैं। हम कबीर के पूरे साहित्य को परिलक्षित करके देखते हैं कि कबीर ने अपने दौर में नारी की जो स्थिति देखी और समझी उसको अनेक रूपों में अपनी रचनाओं में व्यक्त किया। कबीर जब साधना के पथ पर अग्रसर होते हैं तो खुद स्त्री का रूप धारण कर लेते हैं। इस पथ पर ईश्वर को पति और खुद को स्त्री के रूप में स्थापित करते हैं। स्त्री-निंदक व्यक्ति भला साधना के पथ पर खुद स्त्री क्यों बनेगा? यह सवाल आलोचकों के मन में बराबर उभरता रहा। इसी सन्दर्भ में आलोचक और कबीर चिन्तक पुरुषोत्तम अग्रवाल साधना के पथ पर अग्रसर कबीर के मानसिक द्वन्द्व को स्त्री समाज की मुक्ति से जोड़कर देखते हैं—साधना के धरातल पर द्वन्द्व है—नारी निंदा की रूढ़ि और नारी रूप धारण करने की युक्ति के बीच। यह द्वन्द्व जो कबीर को

परम्परा से ही प्राप्त है—कबीर की कविता में और भी रोमांचक बन जाता है—उनकी स्वाभाविक पारदर्शिता के कारण, उनकी अद्वितीय काव्य क्षमता के कारण। यहाँ फाँक सर्जनात्मक होने के साथ-साथ अपने सांस्कृतिक आशयों में भी उत्तेजक और सार्थक है। बार-बार कौंधती है यह सच्चाई इस फाँक से गुजरते हुए कि महान कविता विचारधारात्मक ज्ञान-मीमांसाओं पर सहज विवेक और अनुभव पर आधारित प्रश्नचिन्ह लगाने का काम भी करती है—मर्यादावादी संस्कारों पर टिके संसार के समानांतर संवेदना और प्रश्नाकुलता का एक प्रतिसंसार रचने का काम भी करती है। इसीलिए कबीर के समय में नारियों की क्या स्थिति थी उसे जानने और समझने के लिए उस समय के ऐतिहासिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य को जानना होगा। तभी हम किसी ठोस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं।

‘स्त्री के हक में कबीर’ पुस्तक को पढ़ने के बाद पाठक के मन में सवाल उठना लाजिमी है कि क्या इस पुस्तक में कबीर पर अब तक हुई बहसों को भी शामिल करके उसके आधार पर लेखक को निष्कर्ष नहीं देना चाहिए था? लेकिन पाठक के मन में उठे इस तरह के सवालों के जवाब का उत्तर लेखक ने खुद इस पुस्तक की भूमिका में दे दिया है। यह पुस्तक वर्षों पहले तैयार हो गई थी, किन्तु हिन्दी आलोचना में जब से विमर्शवादी व्याख्या होने लगी तब से लगा कि कबीर के स्त्री-सम्बन्धी विचारों की कुछ नई व्याख्याएँ होंगी, मेरी धारणाओं में कुछ परिवर्तन हो सकता है लेकिन जब लगा कि अब भी कुछ नया नहीं हुआ तो इसे प्रकाश में लाने का मन बना लिया। मेरे विचार में अब भी यही है कि मूलतः कबीरदास स्त्री-विरोधी नहीं हैं। अगर कबीरदास स्त्री-विरोधी हैं तो सूर और तुलसी भी। अतः मेरी प्रस्तावना है कि कबीर को समग्रता में देखा-समझा जाए, और जब इस दृष्टि से उन्हें देखा जाएगा तो ठीक बात सामने आएगी। कबीरदास स्त्री के हक में कितनी मजबूती के साथ खड़े होकर उनकी लड़ाई लड़ रहे थे, यह पुस्तक इस पक्ष को मजबूत करती दिखती है।

बड़ा और सजग लेखक वही है जो आमजन के भाषाई संस्कार को समझता हो और अपनी भाषा को उसी अनुरूप ढालता हो। इस पुस्तक का लेखक आमजन के उसी संस्कार में पला-बढ़ा है, इसलिए उसने इस पुस्तक में उस संस्कार को अपने शब्दों के माध्यम से ढाला है। आलोचक अनिल राय ने बिना पांडित्य प्रदर्शन दिखाए सरल, सहज एवं सम्प्रेषणीय भाषा में कबीर को स्त्री के पक्ष में खड़ा करने की कोशिश की है। इस पुस्तक के छोटे-छोटे किन्तु गम्भीर अर्थवत्ता वाले वाक्य-विन्यास इस पुस्तक को पठनीय बनाते हैं। दो अलग-अलग समयों को एक साथ एक भाषाई मिजाज में लाकर उसे बड़ी कुशलता से शब्दबद्ध करना किसी भी लेखक के लिए मुश्किल काम होता है। इस पुस्तक के लेखक ने इस कुशलता को बखूबी साधा और निभाया है। तभी वह भक्तिकाल की पारिभाषिक शब्दावली के साथ आज के समय के लोक जीवन से जुड़े शब्दों को उनकी पूरी अर्थप्रवणता के साथ इस पुस्तक में व्यंजित करता चलता है। यह विशेषता इस पुस्तक की महत्ता को तो बढ़ाती ही है, साथ ही लेखक की साहित्यिक प्रतिबद्धता को भी दर्शाती है। पुस्तक को पढ़कर पाठकों को कबीर विषयक सवालों के जवाब तो मिलेंगे ही, कुछ नए सवाल भी मन में उठेंगे। गम्भीर पुस्तक की सार्थकता इसी में है कि वह पाठक के मन में सवाल खड़े करती रहे। □

(कृति : ‘स्त्री के हक में कबीर’ ; लेखक : अनिल राय ; प्रकाशक : हंस प्रकाशन, बी-336-1, गली नं. 3, दूसरा पुस्ता, सोनिया विहार, दिल्ली-110094 ; पृष्ठ : 126 ; मूल्य : 495 रुपये)

सबका साथ सबका विकास सबका विश्वास

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के संबोधन (मई 2019-मई 2020)

एक भाषण सामान्य तौर पर अर्थपूर्ण ढंग से पिरोए गए शब्दों की प्रस्तुति माना जाता है, लेकिन इसका प्रभाव अद्भुत हो सकता है। यह कथन प्रधानमंत्री के भाषणों के लिए अक्सर सच होता है और यह बात पूर्णरूपेण साबित हो जाती है, जब भारतीय प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी हर अवसर पर अपनी बेहतरीन वक्तृत्व-कला के साथ एक या दो भाषण अवश्य देते हैं।

उनकी व्यक्तिगत शैली का एक उदाहरण है...

“सबका साथ-सबका विकास, इस मन्त्र को लेकर के हम चले थे, लेकिन पाँच साल के अखंड, एकनिष्ठ पुरुषार्थ ने, जनता-जनार्दन ने उसमें एक अमृत भर दिया और वो अमृत है-‘सबका विश्वास’ ”

पुस्तक ‘सबका साथ सबका विकास सबका विश्वास’ प्रधानमंत्री के दूसरे कार्यकाल के पहले वर्ष, यानी मई 2019 से मई 2020 तक के 86 भाषणों का संग्रह है। दस खंडों में विभाजित ये भाषण प्रधानमंत्री के ‘न्यू इंडिया’ के विज़न को दर्शाते हैं। ये खंड हैं - आत्मनिर्भर भारत; सिटीज़न-फ़र्स्ट गवर्नंस; कोविड-19 से मुक्ति का संघर्ष; उदीयमान भारत; जय किसान; टेक इंडिया, न्यू इंडिया; हरित भारत, ओजस्वी भारत, स्वच्छ भारत; स्वस्थ भारत, सक्षम भारत; शाश्वत भारत, आधुनिक भारत तथा मन की बात।

जन-मानस के नेता प्रधानमंत्री हर छोटी-बड़ी समस्या को लेकर चिन्तित रहते हैं। सामान्य तौर पर कृषि एवं विशेष रूप से किसान हमेशा उनके लिए एक गम्भीर मुद्दा रहा है।

प्रधानमंत्री ने हमेशा ही एक उज्ज्वल भारत का सपना देखा है, ऐसा भारत जो खासतौर पर महामारी से उबर रहे विश्व में आत्मनिर्भर, जुझारू और चुनौतियों को अवसरों में रूपांतरित करने में सक्षम हो। ऐसा भारत जो ट्रिलियन डॉलर की अर्थव्यवस्था बनने की ओर अग्रसर हो। चाहे आधुनिक संरचनागत ढाँचे का निर्माण हो, जल-सम्बन्धी

मुद्दों का समाधान हो, प्रभावी स्वास्थ्य सेवा प्रदान करना अथवा हरित और स्वच्छ भारत का निर्माण हो, उनके प्रेरक भाषण विकास के लिए प्रौद्योगिकी एवं सार्वजनिक भागीदारी सुनिश्चित करते हुए देश के त्वरित और संतुलित विकास हेतु आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं।

कोविड-19 की वैश्विक महामारी के बाद जिस तरह आम जन-

जीवन पहले की भाँति बेहतर होने की कोशिश कर रहा है तथा दुनिया अभी भी महामारी के दुष्प्रभाव से जूझ रही है, प्रधानमंत्री ने एक अलग उदाहरण प्रस्तुत किया। उनके ज्यादातर भाषण वचुंअल थे। यदि आपदा के समय में दृढ़ और एकजुट कार्रवाई और रणनीति की आवश्यकता होती है तो उन्होंने निर्धारित मानदंडों का पालन किया।

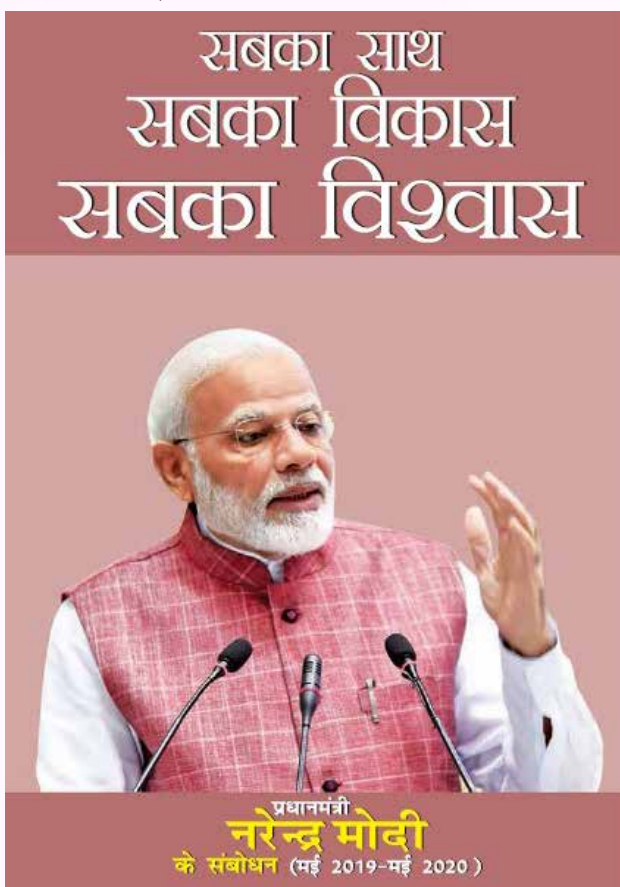
भाषणों में उठाए गए विभिन्न मुद्दों और विषयों की विविधता को ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक को आकर्षक बनाने हेतु एक नई विशेषता जोड़ी गई है। हर खंड से पहले उस खंड के भाषणों से सम्बन्धित कार्यकारी सारांश तथा प्रमुख पहलें एवं उनके प्रभावों से जुड़ी विशेष जानकारी दी गई है।

क्षेत्रवार भाषण उन विषयों/क्षेत्रों पर भाषणों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो माननीय प्रधानमंत्री ने प्रमुख रूप से शासन, स्वास्थ्य, शिक्षा, अर्थव्यवस्था इत्यादि महत्वपूर्ण मुद्दों पर दिए हैं।

हिन्दी और अंग्रेज़ी में यह संग्रह देशभर में प्रकाशन विभाग के बिक्री केन्द्रों और नई दिल्ली के सूचना भवन स्थित पुस्तक दीर्घा में उपलब्ध

होगा। इस पुस्तक को प्रकाशन विभाग की वेबसाइट और भारतकोश प्लेटफ़ॉर्म के द्वारा ऑनलाइन भी खरीदा जा सकता है। पुस्तक ई-पुस्तक के रूप में एमेज़ॉन और गूगलप्ले पर भी उपलब्ध होगी। □

(प्रस्तुति : प्रियंका सिंह)



प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

मूल्य : 1250 रुपये

पृष्ठ : 625

डाक तार पंजीयन सं. डीएल(डीएस) - 42/एमपी/2022-23-24 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली से पोस्ट करने के लिए लाइसेंस यू (डी एन)-49/2021-23

Postal Regn. No. DL (D S) - 42/MP/2022-23-24

Licenced U (DN) - 49/2021-23 to post without pre-payment at RMS Delhi

- 10 अक्टूबर 2022 को प्रकाशित
- 21-22 अक्टूबर 2022 को डाक द्वारा जारी

दिल्ली डाक आर एन आई 701/57

Delhi Postal RNI 701/57

- वार्षिक मूल्य : ₹ 230



प्रकाशक व मुद्रक : अनुपमा भटनागर, महानिदेशक द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए एजुकेशनल स्टोर्स, गाजियाबाद (उ.प्र.) से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003 से प्रकाशित।

संपादक : फरहत परवीन